'ज्ञानपीठ'-लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी-ग्रथांक १०

भारतीय विचारधारा

मधुकर

भा र ती य ज्ञा न पी ठ का शी

ग्रन्थमालासम्पादक और नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन एम ए , डालमियानगर

प्रकाशक,
अयोध्याप्रसाद गोयलीय,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण ३०००
जनवरी १९५१
मूल्य दो रुपये

मुद्रक,
देवताप्रसाद गहमरी
संसार लिमिटेड,
काशीपुरा, बनारस

उन आँखों का

जिनमें पौ फट रही है

न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया ।।

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तकमें मैंने भारतीय विचारधाराको ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोणसे समुचित रूपमें उपस्थित करनेका प्रयास कर अज्ञताजन्य उन भ्रान्तियोको दूर करनेकी चेष्टा की है जो जनसाधारणमें तो क्या विद्वानोमें भी फैली हुई है। उदाहरणके लिए 'हिन्दी-शब्द-सागर' ने अद्वैत वेदान्तके मुख्य सिद्धान्त विवर्तवादकी यह परिभाषा दी है · "वेदान्तमें एक सिद्धान्त जिसके अनुसार ब्रह्माको सृष्टिका मुख्य उत्पत्तिस्थान और ससारको माया मानते है, परिणामवाद।" वेदान्तसे परिचित व्यक्तिके लिए यह देखना कठिन न होगा कि इस परिभाषाका कोई भी अश सही नही है।

सर्वसाधारण तकको सुलभ बना सकनेके लिए मैंने पुस्तकको अधिकसे अधिक सरल और स्पष्ट बनानेका प्रयत्न किया है। सरलताकी रक्षाके लिए मैंने भारतीय विचारधाराका अन्यदेशीय विचारधाराओसे तुलनात्मक अध्ययन, उसका व्यावहारिक पक्ष और तिथि निर्णय आदि ऐतिहासिक रुचिकी बातोको छोड उसके प्रमुख दार्शनिक पक्षोका ही निरूपण किया है। विवादास्पद और मतभेदवाले स्थलोपर मैंने उसी दृष्टिकोणको अपनाया है जो मुझे उस विचारधाराके रूपके सर्वथा उपयुक्त जान पडा है।

मै उन सभी लेखकोका ऋणी हूँ जिनकी पुस्तको और जिनके विभिन्न पत्र-पत्रिकाओमें प्रकाशित लेखो आदिसे मैंने सहायता ली है। मै उन सब महानुभावोका हार्दिक कृतज्ञ हूँ जो अपनी सद्भावनाओसे मुझे सदा उत्साहित करते रहे है। मै अपने उन सहयोगी और मित्रोको भी नही भूल सकता जिन्होने इस पुस्तकमें रुचि दिखाई और जिनका सामीप्य मेरे जीवनकी अमूल्य निधि बन चुका है।

इलाहाबाद,
जनवरी, १९५१

—मधुकर

विषयकी

परिचय

भूल-सुधार

पृष्ठ १२८ में २१वीं पक्ति प्रेसकी असावधानीसे कुछ पुस्तकोमें नहीं छप सकी है। वह इस प्रकार है--

है और जगत् उसका प्रतिबिम्व है। यद्यपि प्रतिबिम्व मिथ्या है तथापि

वे लोग ? क्या थे उनके विचार ?

भारतीय विचारधाराके अध्ययनके लिए, भारतीय मस्तिष्ककी क्रिया-प्रतिक्रियाको समझनेके लिए हमें आजसे लगभग तीन हजार वर्ष पहले लौट चलना पडेगा। अपने विकास क्रममें भारतीय विचारधाराने छह आस्तिक और तीन नास्तिक धाराओको जन्म दिया। आस्तिकका अर्थ है वेदोके प्रमाणको मानना। नास्तिकका अर्थ है वेदोके प्रमाणको न मानना (दे०, मनु, २,११)। जैन, बौद्ध और चार्वाक नास्तिक है,

शेष सब आस्तिक। भारतीय विचारधाराकी गतिविधिको चार भागो में बाटा जा सकता है। वैदिक काल, जिसमें वेद और उपनिषद् आते है, महाभारत काल, जिसमें चार्वाक और गीता है, बौद्धिक काल, जिसमें जैन, बौद्ध विचारधारा और उसके सम्प्रदाय है, और उत्तर बौद्धिक काल, जिसमें न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, पूर्व और उत्तर मीमासा है।

वैदिक कालमे आर्य भारतभूमिमें विजेता होकर आए थे। अतएव उनके जीवनमें उल्लास था, ऐश्वर्यको भोगनेकी कामना थी। उनकी दृष्टि आशावादी और बहिर्मुखी थी। वे मनोवाञ्छित फलकी प्राप्ति के लिए यज्ञोका अनुष्ठान करते थे। धीरे धीरे वे उन बातोसे ऊबने लगे और उनकी बहिर्मुखी दृष्टि अन्तर्मुखी होने लगी। उन्हें कर्ममें रुचि न रही और वे ज्ञानकी ओर झुके। उपनिषदोकी रचना हुई और ज्ञान-मार्गपर अग्रसर होनेसे विचारोमें मतभेद होने लगे, दृष्टिकोण बदलने लगे जिससे तत्कालीन जीवनमें कुछ अव्यवस्था सी आ गई।

महाभारत काल तक आते आते विचारोका विरोध बढता ही गया। यहा तक कि चार्वाकने ज्ञान और कर्म दोनोको व्यर्थ बताकर जीवनके सुखोकी आसक्तिमें ही सब कुछ समझा। इस कालमें दो मुख्य सिद्धान्त मिलते है यदृच्छावाद और स्वभाववाद। यदृच्छावादके अनुसार जगत् अकारण और केवल घटनावश ही उत्पन्न हो गया है और उसकी सब वस्तुएँ सयोगाश्रित ही है। स्वभाववाद मानता है कि जगत्की वस्तुएँ अपने अपने स्वभावके अनुसार ही बनी है (स्वभावभाविनो भावान्)। चार्वाक विचारधाराका उद्गम यदृच्छावादसे ही है। इस कालमें साख्य के विचारोकी प्रधानता भी दृष्टिगोचर होती है जिसका स्पष्ट प्रभाव गीतापर पडा है। गीता इस कालीन जीवनकी विषमताको दूर करके उसमें सामञ्जस्य लानेका एक प्रयत्न है।

महाभारतकालमें पाई जानेवाली विभिन्न विचारधाराओने एक इस प्रकारके अविश्वासको जन्म दे दिया कि मनुष्यको अपनी बुद्धिके

अतिरिक्त और किसीपर विश्वास कर सकना कठिन हो गया । जैन और बौद्ध विचारधाराएँ मनुष्यका अपनी बुद्धिपर ही विश्वास करनेका प्रथम आह्वान हैं । ये दोनो विचारधाराएँ वेदोके प्रमाणमें आस्था नही रखती । बुद्धिपर ही विश्वास करनेसे इस कालमें तर्कप्रणालीका आविष्कार हुआ और अनुभवकी सत्यता या विश्वासोकी परख तर्ककी कसौटीपर होने लगी । वेदोकी नीवकी उपेक्षा करके बुद्धिकी नीव पर भव्य प्राचीरो का निर्माण होने लगा । वेदसे अधिक महत्त्व व्यक्ति और बुद्धिको दिया गया ।

बौद्धिक कालकी प्रतिक्रियासे पुराने विश्वासोको भारी धक्का लगा । वेदोके प्रमाणमें आस्था रखनेवालोको वैदिक शिक्षाओकी रक्षा और व्याख्या तर्क और बुद्धि सगत आधारपर करनेकी आवश्यकता पड चली । नास्तिक विचारधाराके प्रतिपक्षमें आकर ही आस्तिक विचारधारा अपनी रूढियोसे छूटकर विकासकी पराकाष्ठा तक पहुँच सकी । उत्तर बौद्धिक कालमें आस्तिक विचारधाराने 'न्याय'में तर्क प्रणालीको विकसित किया, 'वैशेषिक'में परमाणुवादपर फिरसे दृष्टि डाली । जगत् और उसके अनुभवोका विश्लेषण होने लगा । ज्ञानके साधनो और उसके सत्यको परख सकनेकी कसौटीपर अनुसन्धान होने लगे । 'पूर्वमीमासा'में भाषा और व्याकरणके दृष्टिकोणकी सहायतासे वेदोका प्रामाण्य स्थापित करने-का आयास किया गया । इस कालके सभी विचार पहले सूत्ररूपमें मिलते है । बादमे उनपर भाष्य लिख लिखकर उन्हें विकसित रूप दिया गया है । सूत्र रूपमें इस कालकी प्रत्येक विचारधारा एक कलीके समान थी जिसको कुसुमित होनेमें शताब्दिया तक लग जाती थी । अनुमान होता है कि ये विचारधाराएँ सूत्रोकी रचनासे पहले भी अलिखित रूपमें रही होगी । सूत्रोकी रचना शायद इस उद्देश्यसे की गई होगी कि जिन लोगोने इन विचारधाराओपर मौखिक उपदेश सुने थे वे सूत्रोकी सहायतासे उन्हे याद रख सकते ।

नित्यतामें अनुरक्त, जीवनके प्रति अनासक्त, अपनी आस्थामें चट्टान की भाति अटल और स्पष्टवादितामें निर्भीक—ऐसे थे भारतीय विचारक। गम्भीर होते हुए भी वे दुरूह नहीं थे, निराकारकी उपासना करते हुए भी काव्यरहित नही थे और जीवनको अपूर्ण जानकर भी उसकी उपेक्षा नही करते थे। वे जगत्को कर्म-क्षेत्र और जीवनको कर्म करनेका एक अवसर समझते थे। उनका विश्वास था कि सत्यका दर्शन ही अभीष्ट नही है, सत्यसे एकाकार हो सकनेका सतत प्रयत्न करते रहना ही जीवन का श्रेय है। सत्यके दर्शन करनेके लिए आत्माका स्वस्थ होना और हृदय का पवित्र होना अनिवार्य है। और यही है अतीत भारतका महान् सन्देश।

अपनी जीवनयात्राके इस अनन्त पथपर आज जब चारो ओरसे अन्धकार आच्छादित हो रहा है क्या ही अच्छा हो कि हम उनके दिए हुए 'प्रकाश'का सदुपयोग करनेकी क्षमता उत्पन्न कर लें।

वेद

वेद[1] 'विद्' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है जानना। वेदमें हमें उस युगके मनुष्योने जो कुछ जाना था उसका विवरण मिलता है। वेदोका समय लगभग दो हजार सवत् पूर्व बताया जाता है। वेद आदिम मनुष्यके ज्ञान और उसकी मानसिक प्रवृत्तियोका दर्पण है। प्राचीन ग्रथोमें 'वेदत्रयी' या 'त्रयी विद्या' के उल्लेखके आधारपर पता चलता है कि प्रारम्भमें तीन ही वेद थे, ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद। अथर्ववेद शायद बादको सम्मिलित किया गया था। वेद किसी पुस्तकका नाम न होकर पुस्तकोके समूहका नाम है। सारे वेद सहिता (सम = साथ साथ, हित = रखना), ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भागोमें विभक्त है। सहिताए वेदका मत्र भाग है। मत्रोमें ऋचाओ (पद्यो), यजुषो (गद्यके वाक्यो) अथवा सामो (गेय पदो) का सकलन है। सहिताएँ पाच है, ऋग्वेद सहिता, तैत्तिरीय या कृष्ण यजुर्वेद सहिता, वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद सहिता, सामवेद सहिता और अथर्ववेद सहिता। प्रत्येक सहिता की अनेक शाखाए पाई जाती है। प्रत्येक शाखाके मत्र-पाठ और क्रममें अन्तर होता है। ऋग्वेदकी पाच शाखाए प्राप्त है, शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, कौषितकि या शाखायन और ऐतरेय।

ऋग्वेद सहिता अत्यन्त प्राचीन और सब सहिताओसे श्रेष्ठ है। यह सम्पूर्णत पद्यमें है। इसमें १०२८ सूक्त मिलते है। सूक्त किसी एक विषयके मत्रोके समूहको कहते है। पूरा ऋग्वेद मडलो, अनुवाको, सूक्तो और मत्रोमें विभक्त है। ऋग्वेदमे दस मडल है। हरेक मडलमें कई

---

१ वेदोको श्रुति भी कहते है। श्रुति शब्द श्रु धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'सुना हुआ'। लोगोका विश्वास था कि ईश्वरने जगत् और उसके प्राणी रचे है तो उसने अपने बच्चोके मार्गप्रदर्शनके लिए कुछ आदेश भी दिए होगे। वेद ईश्वरसे 'सुने हुए' वही आदेश है।

अनुवाक होते हैं और हर अनुवाक में कई सूक्त। प्रत्येक सूक्तका कोई न कोई द्रष्टा है जिसे उस सूक्तका 'ऋषि' कहते हैं। विभिन्न मडलोंमें इन्ही ऋषियोके वशोके अनुसार सूक्तोका सकलन एक विशेप योजनाके साथ किया गया है। इसका यही अर्थ है कि किमी मडलकी रचना या ईश्वरसे प्राप्ति उसी मडलके ऋपि और उसके कुटुम्बियोंके माध्यमसे हुई मानी जाती है। ऋग्वेदका दूसरा, तीसरा, चौथा, पाचवा, छठा, सातवा और आठवा मडल क्रमश गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ और कण्व नामक ऋपियोंसे सवद्ध है। ऋग्वेद के अधिकाश सूक्त देवताओकी स्तुतिमें लिखे गए हैं। कुछ सूक्तोमें शपथ, श्राप, जादू, टोने आदिका वर्णन है। इन्हें 'अभिचारसूक्त' कहते है। कुछ सूक्तोमें विवाह, मृत्यु आदिका वर्णन है। ऋग्वेदको जाननेवाला 'ऋत्विक्' कहलाता है।

यजुर्वेदसहिता गद्यमें है। इसमें मुख्यत यज्ञोके समय उपयोगमें आनेवाले मत्रो, विधियो और क्रियाओका वर्णन है। जिन गद्यवाक्योंमें यह विधिया वर्णित हैं उन्हें यजुप् कहते हैं। इस वेदकी अव पाच ही सहिताएँ उपलब्ध है, काठक, कापिष्ठल-कठ, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और वाजसनेयी। पहली चार सहिताओमें परस्पर वहुत कुछ समानता है। ये कृष्ण यजुर्वेद के नामसे पुकारी जाती है। अन्तिम वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेदके नामसे पुकारी जाती है। तैत्तिरीय सहिता सवसे प्रसिद्ध और मान्य है। यजुर्वेदको जाननेवाला 'अध्वर्यु' कहलाता है।

सामवेद सहिता यद्यपि ऋग्वेदके मत्रोसे ही निर्मित है तथापि उसमें सगीतात्मकता है। सामवेदकी राणायणीय, कौथुमस और जैमिनीय ये तीन सहिताए ही उपलब्ध है। इस वेदमें भी याज्ञिक मत्रोकी प्रधानता है। सामवेदके जाननेवालेको 'उद्गाता' कहते है।

अथर्ववेद गद्य-पद्य मिश्रित है। इसमें मत्र, तत्र, अभिचार आदिकी भरमार है। इस वेदका जाननेवाला 'ब्रह्मा' कहलाता है।

वस्तुत वेदसे तात्पर्य सहिता भागसे ही है। वैदिककालकी विचार-धाराकी प्रवृत्ति और जगत्को समझने तथा उसको देखनेका दृष्टिकोण ऋक् और अथर्व सहिताके मन्त्रोमें मिलता है। उस समयके मनुष्य प्राकृतिक शक्तियोपर ही अवलम्बित थे। प्रकृतिकी जो जो शक्तिया उनकी आवश्यकताओको पूर्ण करती थी वे उनके लिए पूज्य हो जाती थी। सूर्य उनको प्रकाश देता था, उषा उसमें तारुण्य और सौदर्यके भावोको उत्पन्न करती थी, वरुण उनका धर्म-रक्षक था, पर्जन्य उनके खेतोके लिए पानी बरसाता था, इन्द्र उनको युद्धमें सहायता देता था और सोम उनके जीवनमें मादकता भरता था। आश्चर्य क्या जो उन्होने इन प्राकृतिक शक्तियोको आदर तथा भयसे मानवी रूप दे डाला। प्रकृतिकी शक्तियोके मानवी रूपको देवता कहा जाता है। देव शब्दका अर्थ है चमकना। यहापर आदिम मनुष्यके दृश्य जगत्के कारणकी धुधलीसी खोज मिलती है। उनके अनुसार दृश्य जगत्का कारण दैवी हुआ करता था। यहा यह भी प्रवृत्ति है कि दृश्य जगत् ही अन्तिम सत्य नही है वरन् उसके पीछे भी कुछ सत्य है।

वैदिक मनुष्यके देवोकी संख्या अनिश्चित थी। कभी कभी वह तेंतीस माने जाते थे और उनके स्थानोके अनुसार उनका विभाजन किया जाता था, १ आकाश या द्यौ के देवता, जैसे मित्र, वरुण, सूर्य, उषा, विष्णु आदि, २ अतरिक्ष या वायुमडलके देवता, जैसे इन्द्र, मरुत् और पर्जन्य आदि और ३ पृथिवीके देवता, जैसे अग्नि और सोम आदि। इस विभाजनसे देवताओमें पारस्परिक सबध और तारतम्य स्थापित करनेकी प्रवृत्तिका पता चलता है। प्रत्येक भागके प्रवधक उसी भागके देवता होते थे। देवता तो अनेक थे किन्तु जिस जगत्के वे प्रबन्धक थे वह जगत् एक ही था। इस धारणामें एकदेववाद और एकेश्वरवादका बीज है।

देवताओका यह बाहुल्य धीरे धीरे कम होता गया। देवताओका उनके स्थानोके अनुसार उनका विभागकर विश्वको खड खड कर देना

वैदिक मनुष्योको नही रुचा। प्रकृतिके सब पदार्थ और घटनाएँ एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। इसलिए उनके अधिष्ठाता देवताओंकी शक्तियोको मिलाकर एक महाशक्तिकी कल्पना करना वैदिक मनुष्योमें स्वाभाविक था। कभी कभी किसी एक देवताका गुणगान करते समय वे अन्य देवताओको भूल जाते थे और तत्कालीन देवताको ही सबसे बडा समझने लगते थे। इसे उनका 'अवसरिक एकदेववाद' कहा जा सकता है। यही दो प्रवृत्तिया उन्हें एकदेववादकी ओर ले गई। एकदेववादकी प्रवृत्ति ऋग्वेदके '**महत् देवानाम् असुरत्वम् एकम्**' वाक्यसे भी परिलक्षित होती है। वैदिक मनुष्योको एक परम कारणमें विश्वास तो था किन्तु वे उसकी रूपरेखा ठीक ठीक निर्धारित नही कर सके थे। उदाहरणार्थ अपने मौलिकरूपमें विश्वकर्मा इन्द्र और सूर्यका विशेषण था। बादमें वह ईश्वरके रूपमें प्रतिष्ठित हो गया। ऋग्वेदके अन्तिम भागोमें प्रजापतिका महत्व बढने लगता है। आगे चलकर प्रजापति ब्रह्मा बन जाता है।

एकदेववादसे भी ऊँची एकताकी एक और धारणा है जो विश्वके अस्तित्वका केवल एक ही मूल मानती है। इसका पूरा विवरण उपनिषदो में है। इसके दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टिकोणके अनुसार ईश्वर और प्रकृतिमें भेद नही माना जाता। ईश्वरको प्रकृतिसे पृथक् न मानकर उसीमें निहित माना जाता है। जगत्की सृष्टि ईश्वरद्वारा नही होती। जगत् ही ईश्वर है। दूसरे दृष्टिकोणके अनुसार ईश्वर जगत्की सृष्टि करता है। जगत् ईश्वरका परिणाम है और ईश्वर जगत्का कारण। एकेश्वरवादकी यह धारणा ऋग्वेदके "**एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्नि यम मातरिश्वानमाहु**"[१] मन्त्रसे प्रकट होती है। ऋग्वेदके 'नासदीय सूक्त' में 'सृष्टिगान' भी इस धारणाकी पुष्टि करता है।

---

१ देखिए, ऋग्वेद १।१४४-४६। एक ही का वर्णन विद्वान् बहुत प्रकारसे करते हैं। कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई वायु।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परा यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न र्तहि न राञ्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवात स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

इस गीतसे स्पष्ट है कि यहा कारण सिद्धान्तको माना गया है। उस समय 'तद् एकम्'[1] था जो बिना हवाके अपनी शक्तिसे साँस ले रहा था। यहाँ सृष्टिके मूलकी ही खोज नही की गई है किन्तु उस मूलकी प्रकृतिको जाननेका भी प्रयास किया गया है। 'तद एकम्' परम सिद्धान्तकी एकता और भावरूपताको बताता है। यज्ञके प्रभावके कारण सृष्टिकी व्याख्याका एक और दृष्टिकोण भी है जो जगत्की उत्पत्ति बलिसे मानता है। यह 'पुरुष सूक्त'[2] में वर्णित है जहाँ पुरुषकी बलि देनेपर जगत्की सामग्री मिलती है। पुरुषका वर्णन अत्यन्त कवित्वपूर्ण है। "उसके मस्तिष्क से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आखसे सूर्य, मु हसे इन्द्र और अग्नि, साँससे वायु" इत्यादि। जो हुआ है और जो होगा वह सब पुरुष ही है[3]। यहा सम्पूर्णको उसके खण्डोमें विभाजित किया गया है। उपनिषद् कभी कभी इसके प्रत-कूल अनुभवमें दिए गए अलग अलग खण्डोसे सम्पूर्णका निर्माण करते है।

पुरुषके दृष्टिकोणमें हमें सामाजिक सस्थाओका अकुर मिलता है। "ब्राह्मण उस (पुरुष) का मुख था, क्षत्रिय उसकी बाँहें, वैश्य उसकी जाघें

---

१ दे०, वही, मंडल १०, सूक्त १२९, उस समय न तो सत् था और न असत्, न रज थी और न ही गगनका शून्य। पानीके गहरे गर्भमें न जाने कौन वस्तु किस वस्तुको कहां ढँक रही थी। न कहीं मृत्यु थी और न ही अमरता, न कहीं दिन था और न रात। बस 'एक वह' सांस ले रहा था। पवन भी नहीं थी और न कुछ और था।

२ दे०, वही, मं० १० सूक्त ९०।

३ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।

और शूद्र उसके चरण" में हमें वर्णाश्रमकी भावना मिलती है। ऋग्वेद-में विकास और रचनाका दृष्टिकोण मिलता है, किन्तु रचनाकी चर्चामें एक ही सृष्टिका वर्णन है और प्रलयके बाद पुन सृष्टि होनेके विचार का, जो बादकी विचारधारामें बहुत प्रधानता रखता है, कोई चिह्न नहीं है।

वैदिक मनुष्यने देखा कि जगत्की घटनाएँ कुछ नियमोंके आधीन है और वे नियम एक दूसरेसे संबद्ध है। नियमोंकी व्यापकताको ऋग्वेदके ऋषियोंने 'ऋत्' नाम दिया है। सारा जगत् ऋत्से ही उत्पन्न होता है। वरुण ऋत्का रक्षक है (गोपा ऋतस्य)। अपने मौलिकरूपमें ऋत् शब्दका अर्थ था 'नियमोंकी समानता।' मत्रोमें ऋत्का अर्थ 'नैतिक' समानता भी है। वैदिक देवता जगत्के नियमोंके समान व्यवहारके संरक्षक होनेके अतिरिक्त जगत्की नैतिक समानताके भी व्यवस्थापक है। यह वरुणके दृष्टिकोणसे स्पष्ट है। वरुणको धृतव्रत भी कहते है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमोंका सरक्षक है। वरुण शब्दका अर्थ है 'आच्छादित करनेवाला।' वह भौतिक और नैतिक जगत्का सिद्धान्त नियन्ता है। सूर्यको उसकी आँख बताया गया है जिससे उसकी सर्वज्ञ प्रवृत्ति पता चलती है।

जबतक आर्य शातिपूर्वक रहे उनमें वरुणका मान रहा। युद्धकी आवश्यकताओने उनमें इन्द्रका मान बढा दिया। कहा जाता है कि इस समय आर्योका नैतिक पतन हो गया था। किन्तु यह एक सामयिक घटना थी और इन्द्र उनका सबसे बडा देवता नही बन सका।

ऋग्वेदके बाद ही यजुर्वेद और सामवेदमें यज्ञोकी महिमा बढने लगती है। याज्ञिक क्रियाओ द्वारा देवताओंको प्रसन्नकर उनसे मनचाही वस्तु पानेका लोभ बढने लगता है। यहा भक्ति कम है और लालच अधिक। अथर्ववेद मौलिक ग्रथ तो है किन्तु उसमें जादू टोनेकी बातोंकी बहुलता है। इससे आर्योपर अनार्योका प्रभाव स्पष्ट है। शायद इस समय आर्योने अनार्योको उनके विश्वास और धार्मिक भावनाओ सहित अपने

में मिलानेकी चेष्टा की हो। इस कालमें भूत-प्रेतो, वृक्षो, पर्वतो आदिका पूजन शुरू होने लगा था। कुछ देवताओकी उत्पत्ति भी अनार्यों और आर्योंके धर्मोंके मेलसे हुई जान पडती है। रुद्र इसी कालका देवता है जो बादको शिव बन जाता है।

इसके बाद वेदोका ब्राह्मण भाग आता है। ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्म' धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'प्रार्थना' या 'भक्ति'। इसलिए ब्राह्मण शब्द पुरोहितोके यज्ञ सबधी आप्त कथनोका द्योतक है। ब्राह्मण भाग वेदोका व्याख्या भाग है। इस युगके ऋषि मत्रद्रष्टा न होकर सहिता भागके व्याख्याता ही है। मत्ररचनाका युग समाप्त हो चुका था। अब धार्मिक विधानोसे उनका सबध स्थापित करनेकी चेष्टा की जाने लगी थी। ब्राह्मणोकी रचनाका उद्देश्य यज्ञविधि आदि कर्मकाडपर प्रकाश डालना है। ब्राह्मण गद्यमें है। वे यज्ञोकी स्तुतिसे भरे पडे है। यज्ञ करनेवाले पुरोहितोको मोक्षकी चिन्ता नही रह गई थी। यज्ञ द्वारा वे इसी लोकमें सुख-समृद्धि पाना चाहते थे। यज्ञ करनेसे फल मिलता है इसमें उसका अटल विश्वास था। शायद इसी विश्वासका विकसित रूप कर्म सिद्धान्त है जो बादकी विचारधारामें बहुत प्रधानता रखता है।

वैदिक कर्मकाडको समझने तथा उस युगके जीवनकी झलक देखनेके लिए ब्राह्मणोका बडा महत्त्व है। ऋग्वेदके चार ब्राह्मण है, कौषितकि, ऐतरेय, पैगिरहस्य और शाट्यायन। कृष्ण यजुर्वेदके भी चार ब्राह्मण है, तत्तिरीय, वल्लभी, सत्यायनी और मैत्रायणी। शुक्ल यजुर्वेदका केवल एक ब्राह्मण है, शतपथ। सामवेदके सामविधान, मत्र, आर्षेय, वश, दैवताध्याय, तलवकार, ताड्य और सहितोपनिषद् ये आठ ब्राह्मण है। अथर्ववेदका ब्राह्मण है गोपथ। ऐतरेय, शतपथ, ताड्य और गोपथ ही महत्त्वके है।

ब्राह्मणोके अन्तिम भागको आरण्यक कहते है और आरण्यकोके

अन्तिम भागको उपनिषद् । अरण्य शब्दका अर्थ है वन । जो लोग वनोंमें रहते थे आरण्यकोंमें उनके लिए नियम आदि हैं ।

यज्ञको देवताओंके प्रति ऋण माना गया है । इस धारणामें कर्तव्य-भावना मिलती है । ऋण तीन बनाए गए हैं, कर्तव्यका, सन्ततिके लिए ऋषियोका और जातिका । कर्तव्यका ऋण जो देवताओंके प्रति होना है, यज्ञ करके चुकाना चाहिए, अध्ययनसे ऋषियोंके ऋणसे मुक्त होना चाहिए और सन्तानोत्पत्ति करके जातिका ऋण चुकाना चाहिए । यज्ञोंकी प्रधानता बढनेसे अग्निका महत्त्व बढने लगा तथा अन्य वैदिक देवताओंकी महत्ताका ह्रास होने लगा । प्रजापति उस कालका सबसे बडा देवता है । प्रजापति प्रकृतिकी सृजनशक्तिका प्रतीक और जगन्नियता है । उस कालमें यज्ञोंकी जटिलता बढ जाने और उसके साहित्यकी अधिकताके कारण उसकी याद रख सकना असम्भव हो गया था । यज्ञ-विधियोंको याद रख सकनेके लिए उन्हें सूत्ररूप देनेकी आवश्यकता पडी और इस प्रकार सूत्रकालका प्रारम्भ हुआ ।

नरकका जिक्र ऋग्वेदमें तो नही है किन्तु अथर्ववेद और ब्राह्मणोमें है । वैदिक युगमें नैतिकताकी कोई निश्चित धारणा नही मिलती । 'अन्यव्रत' 'देवनिद्' आदि विशेषणोंसे पता चलता है कि उस समय भी देवताओंको न मानने तथा यज्ञोंकी निन्दा आदि करनेवाले लोग थे । नरककी धारणा शायद उन्ही लोगोंके लिए रही होगी । कुकर्म और पापका दण्ड सदाके लिए नरकमें जाना है । पापीका सबसे कठोर दण्ड 'पुनर्मृत्यु' (मर मरके जीना) है । नरककी धारणामें आत्माकी अमरताका सकेत मिलता है । मृत्युका अर्थ विनाश न होकर अन्यत्र कही चले जाना है जहा सुख-दुख 'जैसी करनी वैसी भरनी' के अनुसार मिलते है ।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्दका अर्थ है भक्ति भावना (नि) से पास (उप) बैठना (षद्)। सभ्यताके शैशवकालमें लिखित ग्रथ न होनेसे ज्ञानपिपासु गुरुजनोके पास बैठकर शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनिषदोमें वही शिक्षाएँ सग्रहीत है जिन्हें उपदेशोसे थककर लिपिबद्ध कर दिया गया था। उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणोके अतिम भाग है तथापि उनकी प्रवृत्ति ब्राह्मणोके कर्मकाण्डके विरुद्ध है। एक ऐसा समय आया था जब लोग वाह्याडम्बरो से ऊब अपनी दृष्टिको अतर्मुखी करके जीवनसबधी चिंतन और ज्ञानकी खोजकी और आकर्षित हुए थे। यह मुण्डक-उपनिषद्के कथनसे स्पष्ट है 'इन यज्ञरूपी नौकाओमें बताया गया अट्ठारह प्रकारका ज्ञान वर्जित कर्म बहुत परिक्षीण है। इसे श्रेय कहकर इसका अभिनन्दन करनेवाले मूर्ख बारबार वृद्धावस्था और मृत्युको प्राप्त होते है।'[1]

वैसे तो लगभग डेढ सौ उपनिषदोके नाम मिलते है किन्तु आगेकी विचारधाराकी पृष्ठभूमि होनेके नाते उनमेंसे बारह ही प्रसिद्ध है। ऋग्वेदके ऐतरेय और कौषितकि, कृष्ण यजुर्वेदके कठ, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, शुक्ल यजुर्वेदके ईश और वृहदारण्यक, सामवेदके केन और छादोग्य, और अथर्ववेदके प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य।

उपनिषदोकी इस बडी सख्याको देखते हुए यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि उनमें एक ही शिक्षाका प्रतिपादन किया गया है या अलग अलग शिक्षाओका ? उपनिषदोमें अनेक शिक्षाएँ मिलती है किन्तु भारतीय आलोचको और विचारकोका हठ रहा है कि सब

---

१ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो ये अभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति। (१।२।७)

उपनिषद् एक ही शिक्षाका प्रतिपादन करते है। इसके दो मुख्य कारण है। भारतीय विचारक वेदोकी भाति उपनिषदोको भी 'श्रुति' समझते है और उनके मतमें ईश्वरीयवाणीमें परस्पर विरोधी शिक्षाएँ नही हो सकती। दूसरा कारण है ऐतिहासिक और आलोचनात्मक प्रवृत्ति की कमी जिससे वे यह नही देख सकें कि उपनिपदोमें प्रत्येक ऋषिने अपने दृष्टिकोणके अनुसार सत्यकी व्याख्या की है। यह मानते हुए भी कि सब उपनिषद् एक ही शिक्षा देते है भारतीय आलोचक 'उस शिक्षाका स्वरूप क्या है ?' इसमें मतभेद रखते है। उपनिषदो की वहुत ही स्पष्ट और पूर्ण विकसित शिक्षा एकतावाद तथा ज्ञातावाद की है। ज्ञातावादके अनुसार जगत्‌की सम्पूर्ण वस्तुएँ चाहे ज्ञाताके मस्तिष्कमें न हो किन्तु उनके ज्ञानके लिए ज्ञाताका उनसे पहले होना अत्यन्त आवश्यक है।

जगत्‌की सारी वस्तुएँ नष्ट होती रहती है। जो आज है वह कल नही रहती, जो कल थी वह आज नही रहती। इस सवके पीछे क्या कोई ऐसी भी वस्तु है जिसका नाश नही होता, जो सदा स्थिर रहती है। यदि ऐसी कोई वस्तु है तो हम उसे कहा ढूढें ? कैसे ढूढें ? वाह्यजगत्‌की वस्तुओतक हमारी पहुच सीधी न होकर इन्द्रियोके माध्यमसे होती है। प्रत्यक्ष अनुभव तो केवल अपनी ही सत्ताका हो सकता है। किंतु हमारा शरीर भी तो विनाश और मृत्युको प्राप्त हो जाता है। तो क्या मरनेपर हमारा सव कुछ समाप्त हो जाता है ? हमारे भौतिक शरीरमें क्या ऐसी कोई वस्तु नही है जिसका विनाश न होता हो ? हमारा भौतिक शरीर तो नष्ट हो ही जाता है इसलिए हमारे अन्दर यदि कोई ऐसी वस्तु है जिसका विनाश नही होता तो वह अ-भौतिक ही हो सकती है। किंतु वह है क्या ? उन्होने देखा कि 'श्वास' लेनेसे ही हम जीवित रहते है। हो न हो यह 'श्वास' ही शायद वह वस्तु हो। यह अवश्य कोई ऐसी शक्ति है जिसका विनाश सभव ही नही। इसी 'श्वास' को उन्होने 'आत्मा'

कहकर पुकारा। आत्मा मनुष्यके जीवित रहनेका आवश्यक अग है, इसलिए कालान्तरमें आत्मा शब्दका प्रयोग किसी वस्तुके आवश्यक अगके अर्थमें भी होने लगा। इन्द्रिया बाह्यदर्शी है अतएव मनुष्य अपने भीतर-की चीजें नही देख सकता। दृष्टिको अतर्मुखी करके ही आत्माको देखा जा सकता है।[1] आत्माको वाद-विवाद, बुद्धि या सुननेसे नही जाना जा सकता। आत्मा जिसका वरण कर लेती है वही इसे जान सकता है और वही इसके स्वरूपको देख सकता है।[2] मनुष्यकी मानसिक दशाएँ बदलती रहती है। आत्मा इनमेंसे नही है। आत्मामें कोई विकार नही होता। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओसे परे है। वह न तो उत्पन्न होती है और न ही मरती है। वह चैतन्यस्वरूप होती है और कहीसे नही आती। वह अज है, नित्य है, शाश्वत है, प्राचीन है, शरीरके मारे जानेपर भी वह नही मरती।[3]

वही शक्ति, वही आत्मा वाह्य जगत्में भी है। वाह्य जगत्की सत्यताको 'ब्रह्म' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ है 'प्रार्थना'। 'ब्रह्म' वृ धातुसे निकला है जिसका अर्थ है 'फूट निकलना'। प्रार्थनाके अर्थमें ब्रह्म स्वर द्वारा व्यक्त होता है। जगत्का आदि कारण यहा 'फूट निकलने' में माना गया है। किसी शक्ति (ब्रह्म) से जगत्की

---

१ पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।२।४।१
(कठोपनिषद्)

२ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।१।२।२३
(कठोपनिषद्)

३ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नाय कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।१।२।१८
(कठोपनिषद्)

वस्तुए फूट निकलती है। उस शक्तिको भूतान्तरात्मा (भूतोके अन्तरमें स्थित आत्मा) कहा गया है। जिस प्रकार अग्नि भुवनमें प्रवेश करके अनेकरूपोमें अभिव्यक्त हो रही है उसी प्रकार सब भूतोके प्रत्येकरूपमें एक ही भूतान्तरात्मा प्रकट हो रही है।[1] वाह्य जगतका उद्गम है ब्रह्म और मनुष्यके अन्तर्जगत्का उद्गम है आत्मा। और यह आत्मा ही ब्रह्म है (**अयमात्मा ब्रह्म**)। इसी सत्यको '**तत्त्वमसि**'[2] (तू वही है) और **अहं ब्रह्मास्मि** (मै ही ब्रह्म हूँ) आदि महावाक्यो द्वारा कहा गया है।

इस प्रकार उस कालके विचारकोने अन्दर और वाहरके सत्यको समान माना था। जिसमें आकाश, पृथिवी और अतरिक्ष पिरोए हुए हैं, जिसमें प्राणोसहित मन पिरोया हुआ है, वही आत्मा है। सब बातो को छोडकर उसीको जानना चाहिए। वह अमृतका सेतु है।[3] अपनी सत्तामें सदेह करना असम्भव है, और अपनी सत्ताके पीछे जो सत्य है वही वाह्य जगत्में होनेपर वाह्य जगत्की सत्तामें भी सन्देह करना असम्भव है। आत्मा ससीम है इसलिए वह सम्पूर्ण सत्यकी अभिव्यक्ति नही कर सकती। ब्रह्मका दृष्टिकोण वाह्यगत होनेसे एक कल्पना मात्रसा लगता है। इसलिए जबतक आत्मा और ब्रह्मका सम्मिलन न हो तबतक सत्यकी पूर्ण अभिव्यक्ति नही हो सकती। इसलिए आत्मा और ब्रह्ममें भेद नही हो सकता। सत्यकी पूरी अभिव्यक्तिके लिए आत्माको ब्रह्मकी अपेक्षा है और ब्रह्मको आत्माकी। यह उपनिषदोका 'अनपेक्षित' सत्य है।

---

१ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।२।५।९
(कठोपनिषद्)

२ दे०, छान्दोग्य, ६।१२

३ यस्मिन्द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।२।२।५
(मुण्डक)

यही एकताका सच्चा स्वरूप है। इसीको 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्'[१] वाक्यसे सम्वोधित किया गया है। 'ज्ञान' शब्द सत्यके अ-भौतिकरूपकी ओर सकेत करता है और 'अनन्तम्' शब्दसे उसकी असीमता प्रकट होती है। एक दृष्टिकोणसे न तो यह ब्रह्म है और न ही आत्मा, किन्तु दूसरे दृष्टि-कोणसे यह ब्रह्म और आत्मा दोनो ही है। उपनिषदोमें कही कही देववादके चिन्ह मिल जाते है किन्तु ऐसा वही है जहा अनपेक्षितको मानवीरूप देकर ईश्वर कहा गया है।

इस एकताका वर्णन दो तरहसे किया गया है। कभी तो अनपेक्षित को सप्रपच (सगुण) वतलाया जाता है और कभी निष्प्रपच (निर्गुण)। प्रपच शब्दका अर्थ है विश्वका विस्तार। सप्रपचका सुन्दर वर्णन छादोग्य उपनिषद्के तीसरे प्रपाठकके चौदहवें खण्डमें मिलता है। ब्रह्मको 'तज्जलान्' (अर्थात् जगत् 'तत्ज' उसीसे उत्पन्न हुआ है, 'ल' उसीमें लय होता है और 'अन्' उसीसे जीवित है) कहनेके वाद जगत्की सारी क्रियाओकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लीनता उसीमें वताई गई है। 'वह पृथिवीमें स्थित है और पृथिवीका अतर है, पृथिवी जिसे नही जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है। पृथ्वीके अदर वैठकर जो उसका नियत्रण करता है, वह अन्तर्यामी अमृतमय आत्मा है।'[२] अतरात्मा सव भूतोमें परि-वेष्ठित होकर स्थित है (भूतैस्तिष्ठते ह्यतरात्मा)[३]।

निष्प्रपचका सुन्दर वर्णन वृहदारण्यक उपनिषद्[४] में है। गार्गी

---

१ दे०, तैत्तिरीय।

२ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं य. पृथिवीमंतरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत· ।३।७।३ (वृहदारण्यक)

३ दे०, मुण्डक, २।१।९

४ दे०, ३।८।८।

याज्ञवल्क्यसे पूछती है कि जगत्‌का आधार क्या है ? उत्तर मिलता है कि आकाश। यह पूछनेपर कि आकाशकी विशेषता क्या है, उत्तर मिलता है कि परम सत्य मनुष्यके अनुभवसे परे है। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है "वह अविनाशी है, ऐ गार्गी, विद्वान् उसकी श्रद्धा करते है। वह स्थूल नही है, सूक्ष्म नही है, छोटा नही है, बडा नही है, लाल नही है, चिकना नही है। वह छायासे भिन्न है, अन्धकारसे पृथक् है, वायु और आकाशसे अलग है, वह किसीसे सम्बन्ध नही रखता, वह रसहीन और गधहीन है। उसको आँखोसे नही देखा जा सकता, कानोसे नही सुना जा सकता, वह वाणी और मनसे नही जाना जा सकता, उसका तेजसे कोई सम्बन्ध नही, प्राण और मुखसे भी कोई सम्बन्ध नही, उसका कोई परिमाण नही, वह न अदर है और न बाहर, वह कुछ नही खाता, उसको कोई नही खा सकता।" ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूपसे रहित है, अव्यय है, रसहीन और गन्धहीन है, अनादि है, अनन्त है, बुद्धिसे परे है और ध्रुव है।[1] जो कुछ जाना जाता है ब्रह्म उससे भिन्न है, जो नही जाना जाता उससे भी भिन्न है।[2] जिसे वाणी नही कह सकती किन्तु जिसकी शक्तिसे वाणी बोलती है वही ब्रह्म है। उपासना करनेवाली वस्तुएँ ब्रह्म नही है।[3]

एक ही सत्यकी अभिव्यक्ति करनेके लिए ये दो विरोधी दृष्टिकोण कैसे ! शकराचार्यके मतमें यह दोनो दृष्टिकोण एक ही है। 'अनपेक्षित' इन्द्रियोको सप्रपच ज्ञात होता है किन्तु बौद्धिक दृष्टिकोणसे वह निष्प्रपच है। सप्रपच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म जगत्‌में निहित रहता है किन्तु

१ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथाऽरस नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्त महत परं ध्रुवम्। १।३।१५ (कठोपनिषद्)

२ अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि। १।३ (केनोपनिषद्)

३ यद् वाचाऽनभ्युदित येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेद यदिदमुपासते।१।४ (केनोपनिषद्)

निष्प्रपचके अनुसार ब्रह्म जगत्से परे रहता है। उपनिषदोके अनुसार ब्रह्म जगत्में निहित भी है और उससे परे भी है। जगत्की वस्तुएँ अनपेक्षितसे उत्पन्न होकर उसीमें लय हो जाती है। इसे ब्रह्म परिणामवाद कहते है। इस दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म ही जगत्के रूपमें विकसित होता है। निष्प्रपच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म केवल जगत्का आधार है। ब्रह्म जगतसे परे रहता है। हमारे अनुभवकी वस्तुएँ ब्रह्म नही है। इसे ब्रह्म विवर्तवाद कहते है। विवर्त शब्दका अर्थ है भ्रम। इस दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म जगत्के रूपमें विकसित नही होता, वह हमें जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत्में ब्रह्मका भ्रम हो जाता है।

यदि ब्रह्म निष्प्रपच है तो उससे जगत्की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि एकता ही सत्य है तो जगत्में दिखाई देनेवाली अनेकताका क्या कारण है? एकताको अनेकता और निष्प्रपच को सप्रपच दिखानेवाले सिद्धान्तको भारतीय विचारधारामें 'माया' कहा गया है। उपनिषदोमें माया शब्दका प्रयोग हुआ है।[1] माया शब्द ऋग्वेदमें भी पाया जाता है जहाँ इन्द्रको अपनी मायाद्वारा अनेक रूपवाला हो जाना कहा गया है।[2] प्रारम्भिक उपनिषदोमें मायाके स्थानपर 'अविद्या' शब्दका प्रयोग मिलता है।

जगत् नाम और रूपसे मिलकर बना है। किसी वस्तुका आकार या विशेषता रूप कहलाती है और नाम उसको सम्बोधन करनेके शब्दको कहते है। सब वस्तुएँ अपनी अपनी विशेषताओ, जो उन्हें अन्य वस्तुओसे अलग करती है, द्वारा जानी जाती है। सारी वस्तुएँ ब्रह्मसे उत्पन्न होती है और उनकी पृथक्ता उनके नामरूपोकी विभिन्नताओके कारण होती है।[3] वस्तुएँ दो प्रकारकी होती है, जड और चेतन। चेतन वस्तुएँ जीवके पुनर्जन्मका निवासस्थान होती है। जड-जगत ब्रह्मद्वारा

---

१ दे०, श्वेताश्वर, ४।९-१०

२ दे० ऋग्वेद, ६।४७।१८

३ दे०, छादोग्य

निर्मित एक मचके समान है जिसपर आ-आकर जीव अपना अभिनय करते है। जड-जगत् पांच तत्त्वोसे मिलकर बना है, पृथिवी, अप् (पानी), तेजस् (अग्नि), वायु और आकाश। इन तत्त्वोको भूत कहते है और इन्हीके कारण जड-जगत्को भौतिक जगत् भी कहते है। प्रारम्भमें इन पाँचो भूतोमें से केवल अप्को ही माना जाता था। बादमें[१] पृथिवी, अप् और तेजस् ही भूत माने जाते थे। अन्तमें वायु और आकाशको भी जोड कर पाच भूत माने गए। भूतोका यह श्रेणी विभाग पाँचो इन्द्रियोकी विशेषताओका सूचक है। पृथिवीकी विशेषता है गन्ध, अप्की स्वाद, तेजस्की रग, वायुकी तापक्रम और आकाशकी शब्द। इनको सूक्ष्मभूत कहा जाता है और इन्हीसे पृथिवी आदि स्थूल भूतोकी उत्पत्ति होती है। चेतन वस्तुएँ तीन भागोमें विभाजित की गई है अण्डेसे उत्पन्न (अण्डज), कीटाणुओसे उत्पन्न (जीवज) और भूमिसे उत्पन्न (उद्भिज्ज)। इन तीनोके अतिरिक्त कुछ चेतन वस्तुएँ पसीनेसे भी उत्पन्न (स्वेदज) होती है। नष्ट होनेपर चेतन वस्तुओका भौतिक पदार्थ स्थूल भूतोमें परिणत हो जाता है।

मानसिक दशाओका विश्लेषण तथा अध्ययन भी उपनिषदोमें मिलता है। ज्ञेय वस्तुओके ज्ञानके लिए ज्ञाताका ज्ञेय वस्तुओसे पहले होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। ज्ञाताको जीव शब्दसे अभिहित किया गया है। वृहदारण्यकमें कहा गया है कि ज्ञेय वस्तुका ज्ञान जीव द्वारा होता है।

जीव 'जी' शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है 'साँस लेनेकी क्रिया करते रहना।' जीवनकी दो मुख्य क्रियायें है। एक तो वह है जिन्हें हम इच्छानुसार कर सकते है और दूसरी वे जिन्हें इच्छानुसार करने या न करनेमें हम स्वतन्त्र नही है। पहली चेतनक्रियाएँ कहलाती है और दूसरी अचेतन। जीव शब्द जीवनकी अचेतन क्रियाओका सूचक है जैसे साँस लेना आदि। जीव कर्ता भी होता है और भोक्ता भी। कर्त्ता और भोक्ता जीवनकी

१ दे०, वही

चेतनक्रियाओके द्योतक है। अचेतन क्रियाएँ 'प्राण' द्वारा और चेतन क्रियाएँ 'मनस्' द्वारा होती है। मनस् दस इन्द्रियोकी, पाँच ज्ञानकी और पाँच कर्मकी, सहायता लेता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण और रसना। ये क्रमश देखने, सुनने, छूने, गध प्राप्त करने और स्वाद लेनेके अग है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ है, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। ये क्रमश बोलने, थामने, चलने, प्रस्रवन और प्रजननके अग है। जीवके पुनर्जन्ममें उसका केवल भौतिक शरीर ही वदलता है। शरीर, प्राण और मनस् जीवका ऐन्द्रिक घर मात्र है।

सप्रपच और निष्प्रपच दृष्टिकोणोके अनुसार जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध अलग अलग है। सप्रपच दृष्टिकोणके अनुसार स्वय ब्रह्म ही जीव प्रतीत होता है, इसलिए ब्रह्म और जीवमें कोई भेद नही है। जीवका जीवपन ब्रह्मसे अपना समन्वय भूल जानेमें है। जीव कभी कभी अपनी वैयक्तिकताको भी भूल जाता है। इससे पता चलता है कि जीवका तत्त्व ससीम नही है जैसा कि प्राय समझ लिया जाता है[1]। जीवका अपनी वैयक्तिकता भूल जानेका अनुभव जीवनके मनोमय और विज्ञानमय स्तरोके अनुभवोसे ऊँचा और उत्तम है[2]। इस अनुभवको आनन्दमय कहा गया है। इसकी समानता मोक्षसे नही की जा सकती क्योकि यह एक क्षणिक अवस्था है और मोक्ष स्थायी। कलाकारको जिस सौंदर्य और सामञ्जस्यका अनुभव होता है वह इसीके अन्तर्गत है। यह साधारण अनुभव और मोक्षके वीचकी वस्तु है।

वस्तुओके नाम और रूपके अनुभवसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इन्द्रियोद्वारा ससीमका ही ज्ञान हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि असीम अर्थात् ब्रह्मको जाना ही नही जा सकता। उपनिषदो

१ दे०, तैत्तिरीय

२ मनोमय और विज्ञानमय स्तर मनस् की लगभग वही अवस्था है जिसे 'न्याय वैशेषिक, में क्रमशः सविकल्पक और निर्विकल्पक कहा गया है।

का उद्देश्य ही ब्रह्मको जानना है। मुण्डकमें समस्त ज्ञान परा और अपरा विद्यामें विभाजित किया गया है। ब्रह्म परा विद्यासे और जगत् अपरा विद्यासे जाना जाता है। निष्प्रपच दृष्टिकोणके अनुसार ब्रह्म ज्ञानकी सीमाओसे परे है इसलिए उसे जाना नही जा सकता। निष्प्रपच दृष्टिकोणके अनुसार जगत्का ज्ञान विद्या नही है। परम् दृष्टिकोणसे जगत्का ज्ञान केवल अविद्या ही है। फिर विद्या क्या है ? यह सच है कि हम ब्रह्मको नही जान सकते किन्तु हम ब्रह्म हो अवश्य सकते है।[१] विद्या इसीका साधन है।

उपनिषद् जीवका अध्ययन जाग्रतावस्थाके अतिरिक्त निद्रावस्थामें भी करते है। निद्रावस्थाको स्वप्न, स्वप्नरहित निद्रा और तुरीय अवस्थामें विभाजित किया गया है।[२] स्वप्नावस्था जाग्रत और प्रगाढ नीदके वीचकी अवस्था है। इसमें इन्द्रियोका मनस्से समन्वय हो जाता है। जाग्रतावस्थामें मनस् वाह्य जगत्की वस्तुओके आधारपर कल्पना भवनोका निर्माण किया करता है किन्तु स्वप्नावस्थामें मनस् वाह्य जगत्की वस्तुओका आधार न लेकर कल्पनाभवनोका निर्माण करता है, यद्यपि इसके लिए सामग्रीं वह जाग्रतावस्थासे ही लेता है। स्वप्नावस्थाका अनुभव कुछ समयके लिए आँखो देखे अनुभवके समान ही वास्तविक जान पडता है। इसीलिए स्वप्नोको 'इन्द्रियोसे असवधित अनुभूति' कहा गया है।

स्वप्नरहित निद्राकी अवस्थामें इन्द्रियाँ और मनस् शान्त रहते है, जिससे चेतनताका वोध नही रहता। कहा जाता है कि इस अवस्थामें जीव अनपेक्षितके क्षणिक सम्पर्कमें आ जाता है। यह मोक्षकी अवस्था नही है। इस अवस्थामें यद्यपि व्यक्ति तो रहता है किन्तु उसे अपनी वैयक्तिकताकी चेतना नही रहती। इस अवस्थामें चिन्ताएँ आदि नही सताती, इसलिए इसे शुद्ध आनन्दमय अवस्था कहा गया है।

१ दे०, मुण्डक

२ दे०, माडूक्य

तुरीयावस्था इन्द्रियोसे नही जानी जा सकती। यह अवस्था विचार-धाराको बलपूर्वक रोककर प्राप्त की जाती है। यह स्वप्नरहित नीदकी अवस्थासे मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ जीव अपने आपको पूर्णत आवरण मुक्त कर देता है। यहा ज्ञातृ और ज्ञेय दोनो भाव लुप्त हो जाते है। यह रहस्यमयी अवस्था है। आध्यात्मिक शिक्षाका मुख्य उद्देश्य इसी अवस्थाको प्राप्त करना है।

यदि ब्रह्म ही सत्य है तो उसे प्राप्त करनेके लिए हमें क्या करना चाहिए ? हमारे सामने एक ओर तो जीवनयापन है और दूसरी ओर सत्य। जीवन भी प्रिय है और सत्य भी। दोनोमें से हमें किसीकी भी उपेक्षा करते नही बन पडता। जीवन सामूहिक अथवा सामाजिक होता है। समाजमें रहकर जीवनको बितानेके लिए हमें कुछ ऐसे भी कार्य करने पडते है जिन्हें हम करना नही चाहते, जिन्हें हम ठीक नही समझते। फिर भी हम सत्यको पा लेना चाहते हैं। ऐसी कौनसी राह है, जिसपर चलकर जीवन भी विताया जा सके और सत्यको भी पाया जा सके। इस समस्याको सुलझानेके लिए व्यवहार-विज्ञान है।

ब्राह्मण युगका उद्देश्य मृत्युके पश्चात् किसी श्रेष्ठरूपमें वैयक्तिक जीवनका अस्तित्व बनाए रखना था। कर्मकाड और याज्ञिक विधान आदि ही इसका साधन समझे गए थे। यह सब जीवन सग्रामके दृष्टिकोण-पर आधारित था। उपनिषदोका दृष्टिकोण जीवन सबधी चिंतन है। उपनिषदोके अनुसार जिस सत्य तक पहुचना है वह पहुँचनेवालेसे भिन्न नही है। यही ब्रह्म है। ब्रह्म जगत्की एकताका द्योतक है। जगत्की अनेकताका कारण है, पाप। पाप वह प्राकृतिक गलती है जिसके कारण ब्रह्मकी एकता होते हुए भी हमें अनेकता दिखाई पडती है। वैदिक युगमें देवताओको अप्रसन्न करना या याज्ञिक क्रियाओसे विमुख रहना पाप समझा जाता था। परम सत्यको बुद्धि द्वारा नही समझा जा सकता। बुद्धि सत्यका खण्डित और धुधला रूप ही दिखाती है।

पर अपने जीवको रखना होता है। यह तरीका श्रेष्ठ है और ब्रह्मकी प्राप्तिमें सीधा सहायक होता है, क्योंकि ब्रह्मको जीवके समान ही समझना पडता है।

जीवन और मृत्युके लगातार होते रहनेको ससार या आवागमन कहा जाता है। आवागमन कर्म-सिद्धान्तके कारण होता है। कर्म-सिद्धान्त जीवकी धारणामें निहित है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा मृत्युके उपरान्त दूसरे शरीरमें प्रविष्ट होती है और उस शरीरका रूप उसके पूर्वकर्मोपर निर्भर होता है।[१] कर्म-सिद्धान्त यह बतलाता है कि नैतिक और भौतिक दोनो जगतोमें कुछ भी विना कारण नही होता। अपने दुःखोका कारण हम स्वय है। कर्मसिद्धान्तमें विश्वास रखनेसे व्यक्तिमें उत्तरदायित्वकी भावना आ जाती है। व्यक्ति जो कुछ भी करता है आगे चलकर उसे उसका फल अवश्य मिलता है। वह चाहे तो अपनेको वना भी सकता है और विगाड भी सकता है। कर्म-सिद्धान्तमें व्यक्तिके पुरुषार्थका उचित सम्मान है, वह केवल नियतिके हाथका खिलौना मात्र नही है।

कुछ विद्वानोके अनुसार आवागमनका सिद्धान्त आर्योंने अपने नए घरके आदिम निवासियोसे सीखा था। इस सिद्धान्तका विकास भारतवर्षमें ही हुआ और महात्मा वुद्धके समयतक यह दूर दूरतक फैल गया था। इस सिद्धान्तका अकुर ऋत्की धारणामें पाया जाता है। यह सिद्धान्त व्यक्तिकी तार्किक वुद्धि और उसकी नैतिक चेतनताको सन्तुष्ट करता है। मोक्षका अर्थ इसी आवागमनके चक्रसे छूट जाना है।

---

१ दे०, कठोपनिषद्, ५।७

चार्वाक-विचारधारा

कोरे ज्ञानसे ऊबकर उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लगना शायद मनुष्यका स्वभाव है। उपनिषदोके निर्गुण ब्रह्म और मोक्ष प्राप्तिके लिए जीवनकी उपेक्षा लोगोको असह्य हो चली। क्या जीवन इन्ही सब बातो-के लिए है ? हम क्यो न जीवनका सुख भोगें ? हम इस जीवनकी उपेक्षा कर पुनर्जीवनके लिए क्यो चिन्तित हो ? क्यो न हम इसी जीवनमें सुख-पूर्वक रहें और कर्ज़ लेकर भी घी पीते रहें। मर जानेके बाद कौन जानता है कि शरीर कहाँ जाता है और न जाने फिर मिलता है या नही।[1] इसलिए कुछ विचारकोने उपनिषदोके निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानके विरुद्ध उसी प्रकार प्रतिक्रिया की जिस प्रकार उपनिषदोने ब्राह्मणोके कर्मकाड और याज्ञिक क्रियाओ आदिके विरुद्ध की थी। फलस्वरूप कई सम्प्रदायों[2] का जन्म हुआ जिनमेंसे आजकल चार्वाक सम्प्रदायका नाम ही अधिक प्रचलित है।

चार्वाक कौन था ? यह ऐतिहासिक रुचिका प्रश्न है। चार्वाकका अर्थ भी अनेक प्रकारसे किया जाता है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'चारु वाक्' अर्थात् मीठा बोलनेवाला करते है और कुछ 'चर वाक्' अर्थात् खाने पीने-की बातें करनेवाला भी लगाते है। चार्वाकके मतको लोकायत नाम भी दिया जाता है। लोकायत शब्द बहुत पुराना है और कौटिल्यके

---

१ यावज्जीवेत् सुख जीवेत् ऋण कृत्वा घृत पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत ॥

२ दे०, श्वेताश्वतरोपनिषद्।

अर्थशास्त्रमें इसे साख्य-योगके समान आन्वीक्षिकी[1] माना गया है। लोकायत (लोक + आयत) शब्दका अर्थ है लोक तक ही सीमित रखना।

चार्वाक प्रत्यक्षको ही प्रमा (ठीक ज्ञान) का एकमात्र साधन मानता है। अनुमानके साथ अन्य प्रमाणोको नही माना गया है। अनुमान व्याप्तिपर निर्भर करता है और व्याप्तिको सिद्ध करनेका कोई साधन नही है। व्याप्ति देखी हुई बातपर निर्भर है और देखी हुई बातके आधार पर प्राप्त किए हुए नतीजेको समष्टिगत नही बनाया जा सकता। कुछ कौओको काला देखकर यह कैसे अनुमान किया जा सकता है कि दुनियाके सभी कौए काले ही होगे। अनुमानकी सत्यतामें इसलिए विश्वास कर लिया जाता है कि देखनेके समय एक सम्बन्धकी स्थापना हो जाती है। इसलिए अनुमान करना एक मनोवैज्ञानीय क्रिया मात्र ही है। अनुमान के पीछे कोई बौद्धिक तथ्य नही है।

ज्ञानके इस दृष्टिकोणसे जगत्में कोई क्रम या तारतम्य है या नही इस विषयपर कुछ नही कहा जा सकता। चार्वाक प्रत्यक्षको प्रमाका साधन तो मानता है किन्तु उसमें किसी आवश्यक सम्बन्धको नही मानता। प्रत्यक्षमें भ्रम भी रहता है, इसलिए चार्वाक सभी प्रमाणोको सदिग्ध मानता है।

चार्वाकने चार भूत माने है। ये भूत स्थूल है। अनुमानको न माननेसे आकाश और भूतोके सूक्ष्म रूपको नही माना जा सकता क्योकि आकाश और भूतोका सूक्ष्मरूप अनुमान पर निर्भर करता है और इन्द्रियो-से नही जाना जा सकता।

आत्मा इन्द्रियोसे नही जानी जा सकती इसलिए उसको भी नही माना गया है। आत्माकी उत्पत्ति जीवित शरीरके तत्त्वोके मेलसे उसी प्रकार होती है जिस प्रकार विभिन्न चीजोके मेलसे मदिरा बनती है और

---

१ 'आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रका सबसे पुराना नाम है।

उसमें मादकताका गुण आ जाता है। इससे स्पष्ट है कि चार्वाक चेतन सिद्धान्तमें विश्वास तो करता है किन्तु उसे परम नही मानता। चेतनता शरीरके विभिन्न भूतोके मेलसे उत्पन्न एक विशेषता है जो शरीरान्तके वाद नही रहती ? कुछ विद्वानोके मतमें चेतनता चारो भूतोसे उत्पन्न होती है (उत्पद्यते), और कुछके मतमें मदिराकी मादकताकी भाति उसकी अभिव्यक्ति होती है (अभिव्यज्यते)। शरीरकी विशेषताए दुख सुख ही है क्योकि वही शरीरमें परिवर्तन लाते है।

आत्माका अस्तित्व प्रदर्शित नही किया जा सकता इसलिए चार्वाक-के विरुद्ध कुछ कह सकना कठिन है। चार्वाकके आस्तिक आलोचक आत्मा-का अस्तित्व प्रदर्शित नही कर सकनेको स्वीकार तो करते है किन्तु वे यह भी कहते है कि शरीर और आत्माकी अविभिन्नता भी प्रदर्शित नही की जा सकती। चेतनता यदि शरीरका गुण है तो या तो वह नित्य है या केवल सयोग मात्र। चेतनताको यदि नित्य माना जाय तो उसे शरीरान्त तक रहना चाहिए किन्तु वेहोशी या स्वप्नरहित नीदमें चेतनता नही रहती। चेतनताको सयोग मात्र माननेपर उसकी उत्पत्तिके लिए किसी और उपाधि को मानना पडता है और वह उपाधि शरीर नही हो सकता। चेतनता-को शरीरका गुण नही कहा जा सकता। आख प्रकाशकी सहायतासे देखने-की क्रिया अवश्य करती है किन्तु यह नही कहा जा सकता कि देखना प्रकाश का गुण है। शरीर चेतनताका कारण न होकर उसकी अभिव्यक्तिका उपकरणमात्र ही हो सकता है।

चार्वाक किसी अलौकिक सत्ता, ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदिमें विश्वास नही करता। जीवनकी उत्पत्ति केवल स्त्री और पुरुषके सम्भोगसे होती है, इसलिए जीवनमें भोगके अतिरिक्त और क्या हेतु हो सकता है ? भोग ही सब कुछ है। सुख प्राप्ति ही जीवनका प्रमुख उद्देश्य है। व्यक्ति-के सुखमें ही सवका सुख है। चार्वाकका आदर्श 'मन चगा तो कठौतीमें गगा' है। वह व्यक्तिके सुखको ही प्रधानता देता है। चार पुरुषार्थों—

अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष—मेंसे केवल काम और अर्थ ही माने गए हैं। [illegible]-की प्राप्तिके ही लिए अर्थोपार्जन करना चाहिए। जो उपयोगी है वही अभीप्सित और अच्छा है। ससार दुखमय है। उससे छुटकारा पाना और किसी भी मूल्यपर सुखको पा लेना ही चार्वाकका लक्ष्य है। मोक्ष-के आदर्शसे रहित किसी विचारधाराको समझा जा सकता है किन्तु धर्मसे रहितको नही। आज हमें यह विश्वास करनेमें कठिनाई होती है कि कभी ऐसी विचारधारा भी रही थी। वेदो, आत्मा आदिका खण्डन करनेसे चार्वाक सदैव आस्तिकोकी उपहास सामग्री रहा है। अपने वर्तमान रूपमें तो चार्वाक-विचारधारा आस्तिकोके दूषित पक्षपातसे विकृत हो गई है। सम्भव है कभी इसमें कम दोष रहे हो।

गीता

उपनिषदोने ब्राह्मणोके कर्मकाडके आडम्बरोके विरुद्ध और चार्वाक-ने उपनिषदोके निर्गुण ज्ञानके विरुद्ध प्रतिक्रिया कर दी थी। उपनिषदोने ज्ञानपर जोर देकर जीवनकी उपेक्षा कर डाली और चार्वाकने भोग-विलास पर जोर देकर ज्ञानको भुला डाला। दोनोने जीवन और ज्ञानके वीच एक गहरी खाई खोद दी जिसने तत्कालीन समाजमें व्यावहारिक विषमताए उत्पन्न कर दी और उचितानुचितमें विवेक करना कठिन हो गया।

गीताने इस व्यावहारिक विषमताको दूर करनेके लिए '**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज**'का आश्वासन दे दिया। ज्ञान और जीवनके वीच जो खाई वन गई थी गीताने उसपर पुल वनानेका सराहनीय प्रयत्न किया। गीताने व्यावहारिक सामञ्जस्य लानेपर ही अधिक ध्यान दिया और परम सत्यकी खोज विषयक अपना कोई मौलिक दृष्टिकोण देनेका प्रयत्न नही किया। यो तो गीताने अपने समयकी सत्यविपयक सभी खोजोका समन्वय कर उनका आदर करनेकी चेष्टा की, किन्तु उस समयके वातावरणमें साख्य विचारधारा[1] के सिद्धान्तोकी प्रधानता होनेके कारण गीतापर साख्यका ही गहरा प्रभाव पडा। और यह स्वाभाविक ही था क्योकि साख्यका द्वैत मनुष्यके स्वभावमें भी पाया जाता है। मनुष्य एक ओर तो ज्ञान चाहता है और दूसरी ओर जीवनके भोगोको भी छोडनेको तैयार नही होता। ज्ञानको व्यवहारानुगुण वना सकनेकी और व्याव-हारिकताका ज्ञानसे सामञ्जस्य स्थापित कर सकनेकी समस्या मनुष्यके सामने सदासे रही है।

---

१ साख्य विचारधाराका पूरा विवरण 'साख्य-योग' अध्यायमें देखिए।

गीता महाभारतके भीष्मपर्वका एक भाग है। उचितानुचितकी समस्या प्रदर्शित करनेके लिए गीताने कौरवों और पाण्डवोंके युद्धके रूपकका आश्रय लिया है। यह रूपक कोई सच्ची घटना रही थी या नहीं यह हमारे मतलबकी बात नहीं है। यद्यपि कुछ विद्वानों[1]ने यह दिखानेके लिए कि गीतामें अहिंसाकी शिक्षा भी दी गई है उस रूपकको मनुष्यके मानसिक स्तरपर होनेवाला आसुरी और दैवी प्रवृत्तियोंका युद्ध माना है, तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानसिक अन्तर्द्वन्द्वोंका कारण भौतिक जगत्की घटनाएं ही हुआ करती हैं।

जगत्की उत्पत्तिका कारण गीता सांख्यकी भांति प्रकृति[2]को ही मानती है। यहां गीता और उपनिषदोंमें मतभेद है, क्योंकि उपनिषद् जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मसे मानते हैं। प्रकृतिके तीन गुण हैं, सत्त्व, रजस् और तमस्। प्रकृतिके इन्हीं तीनों गुणों द्वारा जीव देहके बन्धनमें आता है[3]। गीता क्षर अर्थात् नाशवान् और अक्षर अर्थात् नाशहीन दो पुरुषोंको मानती है। भूतमात्र क्षर हैं और भूतोंमें स्थित अन्तर्यामी अक्षर है।[4] गीताका अक्षर सांख्यके महत्से मिलती-जुलती चीज है। क्षर पुरुषसे गीताका तात्पर्य शायद मनुष्यकी इन्द्रियों और मनस्से है जो मनुष्यके साथ ही नष्ट हो जाते हैं। अक्षर शायद मनुष्यकी आत्मा है जिसका नाश नहीं होता।

क्षर और अक्षर पुरुषके अतिरिक्त गीता एक उत्तम पुरुषको (जो सांख्यके पुरुषसे मिलता-जुलता है) भी मानती है जो परमात्मा है[5] और

---

१ देखिए, महात्मा गांधी कृत अनासक्ति योग।

२ देखिये, सांख्य विचारधारामें प्रकृतिका विवरण।

३ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥१४।५।

४ द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१५।१६।

५ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥१५।१७।

प्रकृतिसे परे सनातन और अव्यक्त है। सारा जगत् उस अव्यक्त रूपसे भरा हुआ है।[१] उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् (**न सत्तन्ना-सदुच्यते**)। वह ससारको धारण करके भी ससारसे उसी प्रकार अलिप्त रहता है जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण किसी भी वस्तुसे लिप्त नही होता। वह सर्वसाक्षी, अनुमति देनेवाला और भोक्ता है[२] और अक्षर पुरुष (मनुष्यकी आत्मा) में प्रतिविम्बित होकर देहमें रहता है। स्वय गुणरहित होनेपर भी वह गुणोका भोग करता है।[३]

पुरुष और प्रकृति अनादि है, विकार और गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते है। प्रकृति कार्य-कारणका हेतु है और पुरुष सुख दुखके भोगका[४]। अज्ञानी मनुष्य अहकारवश ही अपनेको कर्त्ता समझता है परन्तु वास्तवमें प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुण ही उससे जवरदस्ती सब कुछ कराते है।[५] इस प्रकार गीताका सत्यविषयक दृष्टिकोण ही हमें कर्मकी ओर ढकेल देता है।

अज्ञानजनित अपने इसी अहकारके कारण मनुष्य सत्यको नही देख पाता। अहकारके कारण ही वह व्यावहारिक विषमताएँ उत्पन्न कर लेता है। ईश्वर न तो मनुष्यको पापकी ओर प्रवृत्त करता है और न ही पुण्यकी ओर।[६] पाप पुण्य व्यावहारिक विषमताओका ही परिणाम

---

१ मया ततमिद सर्व जगदव्यक्तमूर्तिना।९।४।

२ दे०, १३।२२

३ निर्गुण गुणभोक्तृ च।१३।१४

४ प्रकृति पुरुष चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसभवान्॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतु प्रकृतिरुच्यते।
पुरुष सुखदुखाना भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।१३।१९-२०

५ कार्यते ह्यवश कर्म सर्व. प्रकृतिजैर्गुणै।
अहकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।३।५-२७

६ नादत्ते कस्यचित्पाप न चैव सुकृत विभु।५।१५।

है । अतएव उस अज्ञानजनित अहंकारको जो सारी विषमताओंकी जड है दूर कर सकनेका उपाय ढूंढना ही गीताकी मुख्य समस्या है ।

कर आत्माको अकर्त्ता जानता है, वही ज्ञानी है। ज्ञानसे वढकर पवित्र करनेवाली और कोई वस्तु नही है। सारे कर्म ज्ञानमें परिसमाप्त हो जाते हैं[१]। वडेसे वडा पापी भी ज्ञानरूपी नौका द्वारा सव पापोंसे तर जाता है। ज्ञानसे मनुष्यमें समदृष्टि आ जाती है और जव मनुष्यका मन समत्वमें स्थिर हो जाता है तो वह इस देहसे ही ससारको जीत लेता है।[२] ज्ञानी मनुष्यका मन उसके वशमें रहता है और उसे सग्रहकी लालसा नही रहती। उसका शरीरमात्र ही कर्म करता है और जिसका शरीरमात्र ही कर्म करता है वह करते हुए भी दोपी नही होता।[३]

भक्तिमार्ग गीता उन लोगोको वताती है जिन्हें ज्ञान दुर्लभ है। जो मन्दवुद्धि है उनके लिए फलेच्छासे रहित होकर कर्म करना निरुद्देश्य है और निरुद्देशितासे काम कर सकना साधारण मनुष्यकी प्रकृतिके प्रतिकूल है। ऐसे लोगोको फलेच्छारहित कर्म इस प्रकार समझाया गया है कि भगवान्को प्रसन्न करनेके लिए कर्म करो, अपने लिए नही। भगवान्को प्रसन्न करनेका उद्देश्य ही उन्हें विना फलासक्तिके कर्म कर सकनेकी क्षमता और प्रेरणा दे देता है।

गीताका कर्मयोग उसके सत्यविषयक दृष्टिकोणका ही सीधा परिणाम है। कर्म तो ज्ञान और जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित कर सकनेका एक सावन मात्र ही है, साध्य नही। अतएव यह समझना कि गीता कर्मयोग-की शिक्षा देती है भ्रम है। विना कर्मको साध्य माने ऐसा समझना असगत है और यह निश्चय है कि गीता कर्मको साध्य नही मानती। कर्मके साथ 'फलकी आशा न हो' यह शर्त ही इसकी सूचक है कि गीता कर्मको साध्य

---

१ सर्वं कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।४।३३।

२ इहैव तैर्जितः सर्गो येषा साम्ये स्थित मन·।५।१९।

३ निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह।
शारीर केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥४।२१।

नही समझती, वरन् कर्मको केवल एक आवश्यक साधन मानकर उसमें आसक्ति न रखनेकी शर्तसे किसी अन्य श्रेष्ठ वस्तुकी ओर इशारा करती है। और वह वस्तु है ज्ञान।

कर्म न करनेसे मनुष्य निष्कर्मताका अनुभव नही कर सकता और मोक्ष कर्मके केवल वाहरी त्यागसे नही मिलता[1]। '**कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव.**' से या '**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं**'के कारण क्षोभ और ग्लानिसे भरकर कर्मसे विमुख होना श्रेयस्कर नही है। नियत कर्मको फलेच्छा, आसक्ति और रागद्वेषसे रहित होकर करना ही सात्त्विकताका लक्षण है[2]। '**मदर्थे त्यक्त-जीविता**' होकर रणक्षेत्रमें खडे '**नानाशस्त्रप्रहरणा.**' और '**सर्वे युद्धविशा-रदाः**' शूरोको देखकर अर्जुन कायरताके कारण और अपने सम्वन्धियोके मोहके कारण निरुत्साहित हो गया था। अर्जुन भूल गया था कि वह सैनिक है और सैनिकका क्षत्रिय स्वभाव ही उसे युद्धमें प्रवृत्त कर देनेके लिए वहुत है। स्वभाव प्रकृतिकी देन है और प्रकृतिके व्यापार कालके '**दंष्ट्राकरालानि भयानकानि मुखानि**' में वेरहमीसे होते रहते है। मनुष्य तो उन व्यापारोको करनेका केवल निमित्तमात्र है।[3]

जो काम सकीर्ण इच्छासे जन्य फलकी प्राप्तिको अलग हटाकर किया जाता है वह एक वडे आदर्शके लिए किया जाता है। यह प्रवृत्तिका उच्चतम रूप है। गीता व्यक्तिके अपने ही लिए किए गए कर्मोको महत्त्व नहीं देती। व्यक्तिके निजी कर्मोसे भी अधिक आवश्यक है उसके सामाजिक कर्तव्य। इसप्रकार गीता प्रवृत्तिके अर्थको वदल देती है।

सामाजिक कर्तव्योपर जोर देकर गीता व्यक्तिकी उपेक्षा नही करती।

---

१ न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥३।४।

२ नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषत. कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥१८।२३।

३ दे०, ११।३३।

सामाजिक कर्तव्योके पालन करते रहनेसे व्यक्तिका आध्यात्मिक विकास होता रहता है और वह उसे जीवनके ऊचे स्तरोपर पहुँचाता रहता है।

लक्ष्यप्राप्तिके बाद भी, पूर्णता पा लेनेके उपरान्त भी, गीता कर्म करते रहनेकी शिक्षा देती है। अकर्मण्यता अनुचित कार्यके बराबर है। इस दृष्टिकोणसे निवृत्ति अथवा सन्यासका भी अर्थ बदल जाता है। स्वय ईश्वर भी जिसे ससारमें कुछ करना या पाना नही है कर्ममें लगा रहता है[१]। यदि ईश्वर कर्म न करे तो लोकोका नाश हो जाय[२]। सन्यासका अर्थ अकर्मण्यता नही है। इस प्रकार गीता निवृत्तिका अर्थ भी बदल देती है।

गीताका सत्यविषयक दृष्टिकोण निर्गुण ब्रह्मकी स्थापना करता है। किंतु निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान साधारण मनुष्यको दुर्लभ है, इसलिए गीताने निर्गुण ब्रह्मकी अभिव्यक्ति सगुण रूपमें की है। उपनिषदोमें जिस ब्रह्मको वाणीसे व्यक्त नही किया जा सकता था[३], गीताने उसीको 'विभूतियोग' के अध्यायमें रूपको द्वारा वाणीसे प्रकट करनेका प्रयत्न किया है। इस प्रकार गीतामें सगुण ब्रह्मका वर्णन है तो किन्तु वह निर्गुण ब्रह्मको समझाने-का एक साधन मात्र ही है, यह नही कि गीता सगुण ब्रह्मको श्रेष्ठ मानती है।

जब प्रकृति ही सब कर्म कराती है तो क्या हम कर्म करनेमें स्वतन्त्र हो सकते है ? क्या हम अच्छे और बुरे मार्गका चुनाव कर सकते है ? गीताके दृष्टिकोणके अनुसार अच्छा और बुरा तो हमारी व्यावहारिक विषमताओका परिणाम है। व्यावहारिक विषमताएँ जीवके लौकिक

---

१ न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्य वर्त एव च कर्मणि ॥३।२२॥

२ उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ॥३।२४।

३ नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथ तदुपलभ्यते। कठ, ६।१२।

रूप (अहकार)में मोह रखनेसे होती है। यदि जीवके लौकिक रूपमें मोह न रक्खा जाय तो व्यावहारिक विषमताओका कोई स्थान ही न रहे। किन्तु क्या जीवके लौकिक रूपसे उदासीन रहा जा सकता है ? हा, यदि हम चाहें तो, क्योकि अपने जीवसे भी वडे जीवका हमें ज्ञान है। अपनेसे वडे उस जीवका ज्ञान ही हमारे पार्थिव मस्तिष्कमें, हमारी इच्छाओ और सकल्पोमें द्वन्द्व उत्पन्न करता रहता है। इच्छाओ और सकल्पोके द्वन्द्व-की चेतनामें ही कर्मके औचित्यको चुन सकनेकी सम्भावना निहित रहती है।

प्रत्येक कर्मके दो प्रभाव होते हैं। एक तो कर्म द्वारा व्यक्ति तत्काल सुख या दुखका अनुभव करता है और दूसरे कर्म व्यक्तिमें उस कर्मको फिर करनेकी प्रवृत्ति पैदा करता है। कर्मकी इस प्रवृत्तिको सस्कार कहते है। हम अपने सस्कारोपर अधिकार कर सकते है, इसलिए कर्म सिद्धान्तमें एक प्रकारका दायित्व या प्रयत्न भी निहित है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त यह मानता है कि मनुष्यका भविष्य उसके हाथमें है। जगत् एक कार्य-क्षेत्र है जहा कर्त्ताको विचारपूर्वक कर्म कर सकनेका अवसर दिया गया है। उसे यह अवसर किसी भी मूल्यपर खोना नही चाहिए।

कर्मसिद्धान्त पुनर्जन्ममें विश्वास करता है। मनुष्यका जीवन इतना कम है कि वह इसी जीवनमें कर्म द्वारा अपने सस्कारोको सुधारकर पूर्णता प्राप्त नही कर सकता। पूर्णता प्राप्त करनेके लिए उसे कई जन्मोकी अपेक्षा होती है।

आज हमारे सामने जव क्षितिजकी रेखाएँ धु धली पड जाती है, विवशताओकी जन्जीर कुछ और कस जाती है, अन्धकार छा जाता है और दिशाभ्रम होने लगता है, तव महाभारतके उस सुदूरकालसे आती हुई एक दीपककी लौ वरवस आखोके सामने झिलमिला जाती है।

जैन-विचारधारा

गीताने 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ' कहकर ज्ञानयज्ञको द्रव्य-यज्ञोसे श्रेष्ठ तो ठहरा दिया किन्तु द्रव्ययज्ञोमें की जानेवाली हिंसापर अपना कोई निश्चित मत स्पष्ट नही किया। ईश्वरको प्राप्त करनेके लिए यज्ञादिमें जो हिंसा की जाती है वह उचित है या अनुचित इसपर गीता चुप रही। जैन विचारधाराने इसका निश्चित स्वरमें विरोध करके यह दिखा दिया कि मनुष्यकी कोमल भावनाएँ ईश्वरसे श्रेष्ठ हुआ करती है।

जैन 'जिन' शब्दसे निकला है जिसका अर्थ है राग द्वेष आदिपर विजय पा लेनेवाला। इस प्रकार जैन विचारधारा व्यावहारिक दृष्टिकोणको लेकर चलती है। जैनियोके चौबीस तीर्थंकर हुए थे। अन्तिम तीर्थंकर महावीर थे। उनका समय ५४२ से ४७० सवत् पूर्व तक माना जाता है। उनकी शिक्षाएँ उनसे पहले ऋषभदेव, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरोकी मूल अहिंसा सिद्धान्तके अनुसार थी।

जैनियोने जगत्की सारी वस्तुओका विभाग जीव और अजीव—चेतन और जड—की श्रेणीमें किया है। जीव शब्दका अर्थ है 'जीवित रहनेवाली वस्तु।' जीवकी धारणा जीवनकी विशेषताके अवलोकनपर आधारित है। इसलिए जीवका अर्थ यहा आत्मा न होकर भी जीवनको गति देनेवाला सिद्धान्त है। जीवोकी सख्या अगणित है। इससे स्पष्ट है कि जैनी अनेकवादी है। सब जीव एक समान और नित्य है। वे भोक्ता तथा कर्त्ता दोनो ही है। उनका कोई निश्चित आकार या परिमाण नही है। उनमें आकुञ्चन और प्रसारण होता है। वे सावयव पदार्थ हैं। उनमें असीम शाति, असीम ज्ञान और असीम शक्ति होती है।

जैनी जीवकी व्यापकताको नही मानते। उनका कहना है कि जीवकी उपस्थितिका अनुमान ज्ञान, चेतना आदि गुणोंके द्वारा ही होता है

और ये गुण शरीरके बाहर नही पाए जाते । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जीवकी सत्ता शरीरके बाहर भी रहती है ।

अजीव अर्थात् ससारकी जड वस्तुओको पाच भागोमें विभाजित किया गया है । काल, आकाश, धर्म (यहा धर्मका अर्थ गतिका माध्यम है), अधर्म (अर्थात् स्थिरताका माध्यम) और पुद्गल[1] । इन पाचोमे जीवन और चेतनता नही होती । इनमें काल और आकाश अनन्त है आकाशके दो भाग है, एक तो लोकाकाश जहा गति सम्भव है और दूसरा अलोकाकाश जहा गति सम्भव नही है । पुद्गलमें रग, स्वाद, गन्ध और स्पर्श गुण होते है । ध्वनि पुद्गलका परिणाम है, गुण नही । पुद्गल नित्य है और मूलत परमाणु रूप है । सारी वस्तुओका निर्माण–ज्ञानेन्द्रियो और मनस्का भी–परमाणुओसे होता है । यह जैनियोका परमाणु वाद है । पुद्गलका अन्तिम विश्लेषण ही परमाणु है । परमाणु अमूर्त (इन्द्रिय अग्राह्य) होकर भी मूर्त वस्तुओको उत्पन्न करते है । परमाणुओ से उत्पन्न वस्तुओकी पृथक्ता उन वस्तुओमें निहित परमाणुओके रग, रूप गन्ध आदिके भेदके कारण होती है । परमाणुओको केवल सर्वज्ञ ही देख सकते है । परमाणुओके समूहको 'स्कन्ध' कहते है । जगत् एक महा स्कन्ध है ।

कर्म भी पुद्गलका ही सूक्ष्म रूप है । जैन दृष्टिकोणके अनुसार पुद्गल जब अपनी सूक्ष्मावस्थामें होता है तब उसके परमाणु किसी भी सख्यामें एक स्थूल परमाणुकी जगह घेर सकते है । पुद्गलकी यही सूक्ष्मावस्था कर्म है जो जीवसे सबधित होकर ससार उत्पन्न करती है । कर्मके अनेक भेद है । ज्ञानावरणीय कर्म जीवका ज्ञानमय स्वरूप ढँक लेते है । दर्शनावरणीय कर्म दर्शनगुणको प्रकट नही होने देते । वेदनीय कर्म जीवके आनन्दमय स्वरूपको आच्छादित कर दुःखका हेतु बन जाते है और मोहनीय

---

१ अंग्रेजी शब्दावलीमें पुद्गलका पर्याय Matter है.

पर्याय बदल गए है। अनुभव ही हमें सत्को एकता-में-अनेकता करके दिखाता है। यदि द्रव्यकी ओरसे देखा जाय तो वस्तु स्थिर रहती है और यदि पर्यायोकी ओरसे देखा जाय तो वह परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार परिवर्तन और स्थिरता साथ साथ पाए जाते है। इन दोनोको साथ साथ जानना 'सुनय' कहलाता है और एक दूसरेको अलग-अलग जानना 'नयाभास'। सत्यका यथार्थ रूप नयसे ही समझा जा सकता है। एक पदार्थको सब प्रकार सारे दृष्टिकोणोसे देख लेनेपर उस पदार्थको सब प्रकार देख लिया जाता है, और सब प्रकारसे सब भावोको देख लेनेपर उसी एक भावको अच्छी तरह जान लिया जाता है।[1]

स्याद्वाद अनेकातवादको कहते है जिसके अनुसार एक ही वस्तुमें नित्यता, अनित्यता आदि अनेक गुण एक ही साथ विद्यमान रहते है।[2] स्यात् शब्दका अर्थ है एक सुनिश्चित दृष्टिकोण। इसका अर्थ 'शायद' नही है। सत्यके निश्चित स्वरूपकी परख अनेक दृष्टिकोणोसे ही की जा सकती है। किसी एक दृष्टिकोणसे सत्यको नही जाना जा सकता। जैनी सत्य-की परख सात प्रकारसे करते है। इन्हें 'सप्तभगी' कहते है।

१ स्यादस्ति (अमुक दृष्टिकोणसे 'है')
२ स्याद् नास्ति (अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे 'नही है')
३ स्यादस्तिनास्ति (क्रमश अमुकदृष्टिसे 'है' अमुक दृष्टिसे 'नही' है')
४ स्याद् अवक्तव्य (अमुक दृष्टिसे वचनोके अगोचर है)
५ स्यादस्ति च अवक्तव्य (क्रमश अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'अवक्तव्य' है)

---

१ एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावा सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भाव सर्वथा तेन दृष्टः।
(स्याद्वादमञ्जरी)

२ स्याद्वादोऽनेकांतवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। (स्याद्वादमञ्जरी)

६ स्याद् नास्ति च अवक्तव्य (क्रमश अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'अवक्तव्य' है)

७ स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य (अमुक दृष्टिसे 'है' और अमुक दृष्टिसे 'नही' है और अमुक दृष्टिसे अवर्णनीय है)

किसी वस्तुकी सत्यताका निर्णय उस वस्तुके द्रव्य, धर्म, स्वभाव, देश और काल आदिके जाननेपर ही किया जा सकता है। यह दृष्टिकोण सापेक्षिक है। यहा जैन विचारधारा और उपनिषदोमें मतभेद है, क्योकि उपनिषदोमें सत्यका दृष्टिकोण अनपेक्षित है और वहा सत्यका वर्णन भी एकताके आधारपर किया गया है।

मनुष्यका व्यक्तित्व आध्यात्मिक और भौतिक तत्त्व, जीव और अजीव के सम्पर्कसे वनता है। जीव और अजीवका सम्पर्क कर्म-पुद्गल द्वारा होता है। कर्मके अनुसार ही उसी वर्गके परमाणु जीवसे सवधित होकर जीवका कर्म-शरीर कार्मण वर्गणाएँ निर्मित करते है। पुद्गलसे सवधित होनेके पश्चात् जीवकी विशेषताएँ तिरोहित हो जाती है। जीवनका उद्देश्य है कर्मपुद्गलसे छुटकारा पा लेना जिससे जीवकी विशेषताएँ व्यक्त हो सकें। कर्मकी वाधाके कारण ही जीवको अपूर्ण ज्ञान रहता है। कर्म जीवकी प्रत्यक्ष शक्तिमें वाधक है। जैनेतर विचारधाराओमें अविद्या-को जीवकी प्रत्यक्ष शक्तिका वाधक माना गया है। जैनियोके दृष्टिकोणके अनुसार ज्ञानेन्द्रिया और मनस् जहा एक ओर तो ज्ञान प्राप्त करनेके साधन हैं वहा दूसरी ओर वे जीवकी ससारयात्रामें उसकी विवशताएँ भी है।

परम सत्यकी अज्ञता आदिके कारण कर्म परमाणुओकी गति जीवकी ओर हो जाती है, इसे 'आस्रव' कहते है। कर्मके सम्पर्कसे जीवकी प्रकृति पतित हो जाती है और वह अज्ञान आदिमें फँस जाता है। आस्रवके पश्चात् 'वन्ध'की अवस्था आती है जिसमें जीव कर्मोसे सम्पूर्णत जकड जाता है। सम्यक् ज्ञान और आत्मसयमसे जीवकी ओर कर्म-पुद्गलकी गति रुक जाती है। इसे 'सवर' कहते है। फिर धीरे धीरे जीवपरसे

कर्मका प्रभाव हटने लगता है। इसे 'निर्जरा' कहते है। इसके बादकी अवस्था मोक्ष है। मोक्षमें जीव और अजीवमें सम्बन्धविच्छेद होकर जीव अपने मूलरूपमें आ जाता है। वह सर्वज्ञाता हो जाता है। इसीको केवलज्ञान कहा गया है। यही ज्ञानका मूलरूप है और इसे मुख्य-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इन्द्रिय और मनसे जानना साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। मोक्ष पा लेनेके बाद जीव अजीवके बन्धनो और कर्मके प्रभावोसे मुक्त होकर लोकाकाशके अन्तमें नित्य आनन्दमें रहता है। यही सिद्धि पाना है।

जिन कर्मोसे जीवकी मूल प्रकृति आच्छादित होकर विकृत हो जाती है उन्हें पाप कहते है। पुण्य कर्म जीवको मोक्षकी ओर ले जाते है। अतराय कर्मोको मिटाकर पुण्य कर्मोकी प्राप्ति ही जीवनकी सबसे बडी व्यावहारिक आवश्यकता है। मोक्षकी प्राप्तिके साधन सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र है। ये जैनियोके त्रिरत्न है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (जगत्का त्याग) ये पाच महाव्रत है। इनमें अहिंसा प्रधान व्रत है। जनसाधारणके लिए इनके स्थानपर अणुव्रत रक्खे गए है। अणुव्रतमें पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रहके स्थानपर स्वदारसतोष और इच्छाएँ कम रखना बताया गया है। इस प्रकार सामाजिकताकी उपेक्षा भी नही की गई है। चरित्रको जाति और वर्ण दोनोसे श्रेष्ठ माना गया है। चरित्र शुद्ध रखनेसे गृहस्थ भी क्रमश मोक्ष पा सकता है। ऐसे जीवको 'गृहलिंगसिद्ध' कहते है।

जैनी ईश्वरमें विश्वास नही करते। जब कर्म स्वय क्रिया करता रहता है तो ईश्वरकी क्या आवश्यकता है। जगत्का एक सर्वव्यापक, स्वतन्त्र और नित्य कर्त्ता मानना दुराग्रह मात्र है।[१] विना देहके कर्त्ता-को ससारमें किसने देखा है ? जीव ही अपनी सम्पूर्ण विशेषताओके व्यक्त होनेपर ईश्वर हो जाता है। ईश्वर जीवका ही दूसरा शब्द है। जैनियो-का ईश्वर वह आदर्श मनुष्य है जो मनुष्यका आदर्श है।

---

१ कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाक बिडम्बनाः स्युः तेषा न येषामनुशासकस्त्वम्।
(स्याद्वादमञ्जरी)

बौद्ध-विचारधारा

गौतम बुद्धका समय ५०० सवत् पूर्व बताया जाता है। वे शाक्यवश-के राजा शुद्धोदनके यहा जन्मे थे। वचपनसे ही वे वडे कोमल हृदयके थे। ससारके दु खोने उनके हृदयको छू लिया था। एक रात वे प्रकाशकी खोजमें घर छोडकर वनमें निकल गए। बुद्धकी शिक्षाएँ पालि भापा-में त्रिपिटक ग्रन्थमें मिलती है।

बुद्धके समय तक विचारक्षेत्रमें पूरी अराजकता फैल चुकी थी। विचारकोमें गहरे मतभेद हो चुके थे। लोग सदेहमें पडकर पथभ्रष्ट होते जा रहे थे और व्यावहारिक जीवनपर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड रहा था। बुद्धने अपने समयकी विषमताको अच्छी तरह समझा और वे इस नतीजेपर पहुँचे कि वाद-विवादसे आचरण नही सुधर सकता, जीवन सुखी नही वन सकता। इसलिए उन्होने अपनी शिक्षाओमें व्यावहारिकता-को ही प्रधानता दी।

ससारमें सभी दु खी है। दु ख क्यो होता है? ससारकी सारी वस्तुएँ क्षणभगुर है। वह प्रतिपल वनती बिगडती रहती है। हमें कोई वस्तु प्रिय है, किन्तु अगले क्षण वह नष्ट हो जाती है। उसे खोकर हमें दु ख होता है। दु ख वस्तुओकी क्षणभगुरतासे ही उत्पन्न होता है। दु खोसे छुटकारा पानेके लिए पहले क्षणभगुरताको समझना चाहिए।

वस्तुओके परिवर्तन या वनने बिगडने—क्षणभगुरता—को क्षणिकवाद कहते है। हमारी इन्द्रियोको जो कुछ भी अनुभव होता है वह जीव द्वारा होता है। जीवका अर्थ यहा अन्य विचारधाराओंके अर्थसे अलग है। जीव चेतनताकी अवस्थाओसे निर्मित होता है। चेतनताकी अवस्थाएँ ही जीव है। चेतनताकी अवस्थाओके सघात (समूह)को जीव कहते

है। जिस प्रकार सिर, हाथ, पैर, आख, मुख आदिके सघातके अतिरिक्त मनुष्य नामकी कोई वस्तु नही होती, जिस प्रकार धुरी, पहिए, रस्सी आदि-के सघातके अतिरिक्त रथकी अपनी अलग कोई सत्ता नही होती[1] उसी प्रकार चेतनताकी अवस्थाओके सघातके अतिरिक्त जीव अपने आपमें कुछ भी नही होता।

जीव पाच स्कन्धोके सघातसे बनता है रूप, विज्ञान, वेदना, सज्ञा और सस्कार। स्कन्धका अर्थ राशि या समूह है। जीवकी भाति भौतिक जगत् भी भूतोके सघातसे ही बनता है। भूत चार माने गए है। पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु। आकाशको सम्मिलित नही किया गया है। इन भूतोका कारण 'अविज्ञप्ति'[2] है। अविज्ञप्तिको जाना नही जा सकता। अविज्ञप्ति वैशेषिक विचारधाराके 'अदृष्ट'से समता रखती है। यह चारो भूत, अविज्ञप्ति, पाच ज्ञानेन्द्रिया और उनके पाच विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श इन पन्द्रहोको रूप स्कन्ध कहा जाता है। आखोसे रूपका, कानोसे शब्दका, नाकसे गन्धका, जिह्वासे रसका, शरीरसे स्पर्शका और मनसे धर्म अर्थात् मानसिक भावोका जो ज्ञान होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते है। विज्ञान स्कन्धके साथ साथ यदि ज्ञानके विषयकी विशेषताएँ भी दिखाई दें तो उसे सज्ञा स्कन्ध कहते है। किसी मनुष्यको देखना तो विज्ञान स्कन्ध है किन्तु उस मनुष्यके साथ साथ उसके रग-रूप, डीलडौल आदिका भी ज्ञान होना सज्ञा स्कन्ध है। सज्ञा स्कन्ध सं अर्थात् सम्यक् या विशेष रूपसे ज्ञ अर्थात् ज्ञान होनेको कहते है। सुख दु खका अनुभव वेदना स्कन्ध कहलाता है। मनपर इन्द्रियोके अनुभव आदिकी जो छाप

---

१ दे०, मिलिन्दप्रश्न और विसुद्धिमग्ग।

२ अभिधर्मकोशमें अविज्ञप्तिका लक्षण यो बताया गया है।

'विक्षिप्ताचित्तकस्यापि योऽनुबन्धः शुभाशुभः।
महाभूतान्युपादाय सा ह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥'

रह जाती है उसे सस्कार स्कन्ध कहते हैं। रूप स्कन्ध जीवमें भौतिक तत्त्वको और शेष स्कन्ध अभौतिक तत्त्वको वतलाते है ।

चेतनताकी अवस्थाएँ (अर्थात् यह पाचो स्कन्ध जिनके सघातसे जीव वनता है) प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है । इसे नैरात्म्यवाद कहा जाता है । नैरात्म्यवादका अर्थ है कि शरीरमें आत्मा नामकी कोई स्थिर और अपरिवर्तनशील वस्तु नही है । हमारे व्यक्तित्वकी जो भी विशेषता हमें दूसरे व्यक्तियोसे अलग करती है वह सतत विकासशील है, स्थिर नही। वुद्धकी यह धारणा आधुनिक मनोविज्ञानके वहुत समीप है । प्रत्येक वस्तु अनेककी राशि होती है। कोई वस्तु 'एक' नही होती प्रत्युत जो 'एक' दिखाई देता है वह 'अनेक'का समूह हुआ करता है । इन पाचो स्कन्धोके अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नही है । इन्द्रियोके अनुभवसे वाहर किसी भी वस्तुका अस्तित्व नही है। रूप स्कन्ध वाह्य जगत् और शेष चारो स्कन्ध अन्तर्जगत्के द्योतक है। इस प्रकार वाह्य और आन्तरिक जगत्की व्याख्या एक ही प्रकारसे की गई है । जो सिद्धान्त वाह्य जगत्में है वही अन्तर्जगत्में है ।

सघात सदा परिवर्तित होता रहता है, इसलिए भौतिक जगत् और जीव दोनो ही सतान (परिवर्तनशील) है । परिवर्तनके अविच्छिन्न प्रवाह-के पीछे ईश्वर जैसी किसी भी विकारहीन और परिवर्तित न होनेवाली वस्तुका होना असगत है । यदि प्रत्येक वस्तु सतान है तो हम किसी वस्तु-को 'वही' कैसे देखते है ? वास्तवमें दो क्षणोमें वस्तु केवल एक सी ही रहती है। वह हमें वस्तुत 'वैसी ही' दिखाई देती है, 'वही' नही । यदि जीव भी सतान है तो स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) कैसे सम्भव हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि जीव सघातात्मक होनेके साथ साथ प्रत्यभिज्ञात्मक शक्ति भी रखता है। प्रत्येक मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थासे चार प्रकारसे सम्वन्ध (पच्चय) रखती है अनन्तर, समनन्तर, नत्थि (अनुपस्थिति) और अविगत । प्रत्येक विनष्ट

मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थाके लिए उपकार होती है अर्थात् विनष्ट मानसिक अवस्था दूसरी मानसिक अवस्थाको अपनी सम्पूर्ण पच्चय-शक्ति दे देती है जो अनुकूल दशा पाकर व्यक्त होती है ।[१] जीवमें प्रत्यभिज्ञात्मक शक्ति होनेका यही कारण है ।

परिवर्तनमें भी एक प्रकारकी विकासशील एकता विद्यमान रहती है । इसे दीपककी लौसे समझाया गया है । दीपकके जलते रहने तक उसकी लौ एक-सी मालूम होती है यद्यपि वह प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है ।[२] यही जीवके अनुभवके साथ भी है । जगत्की प्रत्येक वस्तु वीथी है और स्थिरताकी धारणा गलत है । सत्य 'है' या 'नही है', न होकर 'होते रहना' है ।[३] बुद्धने सत्यकी गतिशील व्याख्या की है । परिवर्तन तो लगातार होता रहता है किन्तु परिवर्तित कुछ भी नही होता । जिसे हम जगत् कहते है वह जगत्-व्यापार है और व्यापारको ही वस्तु कहा जाता है । जगत्के इस व्यापारका सचालन न तो ईश्वर द्वारा होता है और न ही सयोगवश । जगत्-व्यापार 'आवश्यकतावश' होता रहता है । जगत्-व्यापारके पीछे किसी कर्त्ताको न मानना बुद्ध-विचारधाराकी मुख्यता है ।

प्रत्येक वस्तु अपने कारणसे उत्पन्न होती है । कार्य न तो कारणसे अन्य होता है और न ही अनन्य । बीजसे अकुर उत्पन्न होता है पर बीज अकुर नही होता और दूसरी ओर अकुर भी बीजसे कोई बिल्कुल अलग वस्तु नही होता । अत बीज नित्य या स्थिर नही है क्योकि वह अकुरके रूपमें परिवर्तित हो जाता है । बीज नष्ट भी नही होता क्योकि अकुरमें

---

१ दे०, आंग का अनिरुद्ध के अभिधम्म-संगह का परिचयात्मक निबन्ध ।

२ दे०, मिलिन्दप्रश्न ।

३ दे०, संयुत्त निकाय ।

रोक सकता है। इसके लिए उसे केवल वीथीका कारण जान लेनेकी आवश्यकता पडती है।

हमने देखा है कि किसी वस्तुका विनाश नही होता। क्षणभगुरताका अर्थ हम पूर्ण विनाश समझते है। विनाश देखकर हम दुखी होते है। क्षणभगुरताका गलत अर्थ ही हमें भ्रान्त बनाकर दुखोमें डाल देता है। यदि हम क्षणभगुरताका ठीक अर्थ, कि किसी वस्तुका विनाश न होकर रूप परिवर्तन ही होता है, समझ लें तो हम दुखोसे एक सीमा तक बच सकते है। हमने देखा है कि कोई वस्तु नित्य भी नही है। अनित्यमें नित्य का भ्रम रखना अविद्या है। अविद्याकी उत्पत्ति जीवको नित्य माननेसे होती है। अविद्यासे जीवनका सच्चा ज्ञान नही होता और इसी कारण दुख उत्पन्न होते है। यहा अविद्याका अर्थ जगत्‌की एकताका अज्ञान न होकर जीवके अस्तित्वका धोखा है। हम उस वस्तुको सत्य समझ बैठते है जो सत्य नही है। एक जीवका अस्तित्व दूसरे जीवोके अस्तित्वमें विश्वास दिलाता है। इस प्रकार हम अपनेको जगत्‌से भिन्न समझते है। हम अपने लाभके लिए दूसरोकी उपेक्षा करने लगते है। इससे सकीर्ण प्रेम, घृणा, राग, द्वेष आदि उत्पन्न होकर हमें दुखकी जजीरोमें जकड देते है।

जीवकी नित्यताका भ्रम (सत्कायदृष्टि) अविद्याको जन्म देता है। अविद्यासे सस्कार उत्पन्न होते है। सस्कार शब्द जिस धातुसे निकला है उसका अर्थ है 'तैयार करना'। हम जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ चाहते है वही हमारे सस्कार है। हमारे विचार और हमारी इच्छाएँ हमें आगेके लिए तैयार करते है। सस्कारोसे विज्ञान और विज्ञानसे नाम और रूप उत्पन्न होते है। यदि विज्ञान न हो तो नाम और रूप भी नही हो सकते। मृत्यु होनेपर शरीर और ज्ञानेन्द्रिया आदि तो मिट जाती है किन्तु विज्ञान प्राचीन और नवीनके बीच सम्बन्ध जोडनेके लिए कडीकी भाति रह जाता है। विज्ञानकी प्रेरणासे ही प्राचीन नवीनको उत्पन्न करता है। यदि विज्ञानको नाम और रूपका आश्रय न मिल पाए तो नवीनोत्पत्ति नही हो

सकती।[१] नामरूपसे स्पर्श (इन्द्रियोका जगत्से सम्पर्क) और स्पर्शसे वेदना (जगत्के अनुभवो) का आविर्भाव होता है। वेदनासे तृष्णा होती है। तृष्णासे हमारे दुख बरसाती घास फूसकी भाति बढते हैं।[२] तृष्णासे उपादान (आसक्ति या मोह) उत्पन्न होता है। उपादानसे भव उत्पन्न होता है। भव वह कर्म है जो जन्मका कारण होते है। भवसे जाति (या जन्म) और जातिसे जरामरण होते है। दुखोकी उत्पत्तिके ये बारह निदान (कडिया) है। कारणको रोक देनेसे कार्य नही होता। जब सच्चे ज्ञानसे अविद्याका नाश हो जाता है तब इन निदानोका भी एकके बाद एक स्वय लोप हो जाता है। दुख, दुखोकी उत्पत्ति (समुदय), उनको दूर करना (निरोध) और उनको दूर करनेके उपाय (मार्ग) ये चार आर्य सत्त्व कहलाते है।

दुखोको मिटानेका उपाय आत्मसयम है। यज्ञादि क्रियाओसे, देवताओ की स्तुति और उनको प्रसन्न करनेके लिए बलि आदि देनेसे दुख दूर नही होते। दुख केवल आत्मसयमसे ही दूर हो सकते है। आत्मसयमके आठ अग हैं सच्ची आस्था, दृढ सकल्प, निश्छल-वाणी, पवित्र कर्म, निर्दोष जीवन, उचित प्रयत्न, शुभ विचार और निर्लिप्त साधना।

सच्ची आस्थाके लिए हमें धर्मग्रन्थो या गुरुजनोकी बताई हुई बातोपर तब तक विश्वास नही करना चाहिए जब तक हम स्वय अपनी बुद्धि द्वारा उनपर विचार न कर लें।[३] पवित्र कर्मोके लिए गगा नहानेकी कोई आवश्यकता नही है। पापीको गगाका जल पवित्र नही कर सकता।[४] मनकी पवित्रता ही यथार्थ पवित्रता है। क्रियाओ और इन्द्रियोके सम्बन्ध-

---

१ दे०, महापदानसुत्त और सयुत्तनिकाय।

२ दे०, धम्मपद।

३ दे०, अंगुत्तरनिकाय।

४ दे०, वत्थसुत्तन्त, मज्झिमनिकाय।

में समता रखना ही श्रेयस्कर है।[१] बुद्धने अन्त समय तक कहा कि सबको अपना उद्धार स्वय ही करना पडेगा।[२] इसमें कोई और व्यक्ति सहायता नही दे सकता। काषाय वस्त्र पहननेसे सयम नही आता।[३] गोत्र या जन्मसे कोई ब्राह्मण नही होता। जिसमें सत्य और धर्म है, जो मन, वचन और वाणीसे पाप नही करता वही ब्राह्मण है।[४]

आत्मसयमसे निर्वाण प्राप्त होता है। शून्यताके ध्यान और ज्ञेयरहित ज्ञानके द्वारा साधक एक ऐसे क्षेत्रमें प्रवेश करता है जहा न तो चेतनता होती है और न ही अचेतनता। तब उसको वेदना, सज्ञा आदिकी पूर्ण अनुपस्थितिका बोध होता है। वेदना सज्ञा आदिके न रहनेसे तृष्णा, भेद, भाव, राग, द्वेष आदि भी नही रहते जिससे विज्ञान-सतानका प्रवाह दोषरहित हो जाता है। विज्ञान-सतानके प्रवाहका निर्दोष हो जाना ही निर्वाण है।[५] निर्वाण दो प्रकारका होता है उपाधिशेष और अनुपाधिशेष। उपाधिशेष निर्वाणमें पाचो स्कन्ध विद्यमान रहते है किन्तु अविद्या नष्ट हो जाती है। अनुपाधिशेष निर्वाणमें स्कन्ध भी नही रहते।

जीवकी स्थिरताको न माननेसे आवागमनका सिद्धान्त बुद्धकी शिक्षाओके प्रतिकूल पडता है। किन्तु ऐसा है नही। यदि कर्त्ताके विना कर्म हो सकता है तो आवागमनकी क्रिया भी आवागमनके कर्त्ताके विना हो सकती है। बुद्धके मतसे आवागमन जीवनके अन्तमें न होकर प्रतिपल होता रहता है। इससे पता चलता है कि बुद्ध जीवके आवागमनको न मानकर चरित्रके आवागमनको मानते थे। वह कर्मको कोई बाहरी प्रभाव नही समझते थे। हमारी क्रियाएँ ही कर्मका ताना बाना बुनती है। अतीतसे वर्तमान

१ दे०, चर्म स्कन्धह, विनयपिटक।

२ दे०, महापरिनिब्बानसुत्त।

३ दे०, धम्मपद।

४ दे०, ककचूपमसुत्तन्त, मज्झिमनिकाय।

५ दे०, सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह।

प्रसूत होता है और वर्तमानसे भविष्य। भविष्य मनुष्यके अपने हाथकी वस्तु है। वह चाहे तो अपने वर्तमान कर्मोसे भविष्यको बदल सकता है। ईश्वरकी शरणमें जाकर उसकी कृपाके मोहताज बननेसे कुछ नही होता। बुद्धने व्यक्तिकी अपनी सस्कृतिको बहुत प्रधानता दी।

बुद्धने ससारके दुखोसे बच सकनेके प्रयत्नोकी खोज की। कुछ विद्वान् बौद्धविचारधाराको निराशावादी कहते है। यह तो रोगके उपचार करनेवालेको ही रोगी कहना हुआ। बुद्धने अपने प्रयत्नसे अपने हृदयकी वासनाओपर विजय प्राप्त करके सत्यका साक्षात्कार किया था। उन्होने सदा आत्मनिर्भरताकी शिक्षा दी। 'आप ही अपना प्रकाश बनो, आप ही अपना आश्रय लो, किसी अन्यका आश्रय मत ढूँढो।'[१] बुद्धके ढाई हजार वर्ष पहलेके यह वाक्य हमारे आजके वैयक्तिक युगमें कितने आधुनिक है। और विचारधाराके क्षेत्रमें जो कुछ आधुनिकता रखता है वही कल्याणकारी होता है, शेष सब पतनकी ओर ले जाता है।

बुद्धने अपनेको कभी भी ईश्वरका अवतार या पैगम्बर नही कहा, अपनी शिक्षाओके लिए कभी भी ईश्वरकी मध्यस्थता स्वीकार नही की, मनुष्यताको विकसित करनेके लिए किसी पारलौकिक अस्तित्वका आश्रय नही ढूँढा, विलक्षण रही होगी ऐसे व्यक्तिकी प्रतिभा। उन्होने अपने अनुयायियोको कभी भी स्वर्गकी अप्सराओका प्रलोभन नही दिया, आचरण सुधारनेके लिए ईश्वररूपी लड्डूका लालच नही दिया, अद्भुत रही होगी ऐसे व्यक्तिकी निर्लोभिता। दुखोसे आर्त होकर लोकका शोक मिटानेके लिए ओककी रोक टोकसे न रुक उन्होने राजसी वैभव तो क्या अपनी प्रिय पत्नी और नवजात पुत्र तकका त्याग कर डाला था, सार्वभौमिक रही होगी ऐसे व्यक्तिकी सवेदना।

---

१ दे०, धम्मपद।

बौद्ध विचारधाराके सम्प्रदाय

अपने समयके विचारोको एकताके सूत्रमें वाध रखनेवाले व्यक्तिके अवमानके वाद लोग उसके व्यवितत्व और विचारोको अपनी अपनी दृष्टिके अनुसार समझनेका प्रयत्न करते है। इस प्रकार गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो जाते है जो आगे चलकर किसी न किसी सप्रदायका रूप धारण कर लेते है। वुद्धके पश्चात् उनकी शिक्षाओकी अनेक व्याख्याएँ की गई और अट्ठारह सप्रदायो'का उदय हुआ। किन्तु उनमेंसे दो सप्रदाय ही अधिक महत्त्वके है हीनयान और महायान।

हीनयान संप्रदाय

यान शब्दका अर्थ है 'मार्ग'।' हीनयान सप्रदाय व्यक्तिको अधिक प्रधानता देता है। अपनी इसी सकुचित दृष्टिके कारण इसका नाम हीन-यान पडा। हीनयानके अनुसार व्यक्तिका अपनेको मुक्त कर लेना ही सवसे वडा काम है। हीनयान सप्रदायको थेरवाद या स्थविरवाद अथवा वृद्धोका सम्प्रदाय भी कहते है। हीनयान वाह्य वस्तुओकी सत्ताको मानता है इसलिए इसे सर्वास्तित्ववाद भी कहा जाता है। इसके अतर्गत दो प्रमुख शाखाएँ है वैभापिक और सौत्रान्तिक।

(क) वैभाषिक

वैभापिक शब्दका अर्थ है 'विशिष्ट भाष्य।' विभापा त्रिपिटकका टीका ग्रन्थ है और चीनी भापामें सुरक्षित है। विभाषाके आधारपर

---

१ महासंघिक, लोकोत्तरवादी, एकव्यवहारिक, कुक्कुलिक, वहु-श्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक, अपरशैल, उत्तरशैल, हैमवत, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, वात्सीपुत्तरीय इत्यादि। वसुमित्रने इनमेंसे कुछ संप्रदायोंका जो विवरण दिया है वह विशेष महत्त्वका नहीं है।

१३५ सवत्के लगभग विकसित होनके कारण ही इस शाखाका नाम वैभाषिक पडा। इसके प्रवर्तक धर्मकीर्ति और दिङ्नाग है।

वैभाषिक वाह्य जगत्की सत्ताको मानता है। वाह्य जगत्की सत्ताका ज्ञान प्रत्यक्षसे होता है। हम मनुष्यता, पशुता आदि शब्दोका प्रयोग करते है। 'मनुष्यता' मनुष्योमें रहनेवाला वह गुण है जिससे मनुष्य 'मनुष्य' कहलाता है। 'पशुता' पशुओकी जातिको बतानेवाला गुण है। मनुष्यता, पशुता आदि शब्दोसे जाति विशेषका पता चलता है। जातिको सामान्य लक्षण भी कहते है। सर्वास्तित्ववादी सामान्य लक्षणोकी सत्ताको नही मानते। हमने मनुष्य देखे है, पशु देखे हैं, किन्तु 'मनुष्यता' या 'पशुता'को कभी नही देखा। हरेक वस्तुका अपना अलग अलग गुण होता है जिसे उस वस्तुका 'स्वलक्षण' कहते है। प्रत्येक स्वलक्षण अनन्वय होता है। सामान्य गुण कही नही पाए जाते। वे केवल कल्पना मात्र हैं। जगत्की सारी वस्तुएँ स्वलक्षण है। स्वलक्षणोकी सत्ता निरपेक्ष है। कर्म, नाम, द्रव्य आदि बुद्धिकी धारणाएँ मात्र ही है। वाह्य जगत्में उनकी कोई सत्ता नही है।

जगत् स्वलक्षणोंके समूहसे बना है। स्वलक्षणोकी सख्या अपरिमित है। स्पष्ट है कि वैभाषिक यथार्थवादी और अनेकवादी है। स्वलक्षणो-का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है। प्रत्यक्ष सदैव कल्पना द्वारा होता है। कल्पनाओको पाच भागोमें विभाजित किया गया है जाति, गुण, कर्म, नाम और द्रव्य। 'यह नीला हैं' इस वाक्यमें नीला रग अभी असम्बद्धित है और प्रत्यक्षकी प्रारम्भिक अवस्था है जिसे निर्विकल्पक कहा जाता है। प्रत्यक्षकी निर्विकल्पक अवस्थामें मस्तिष्क क्रियारहित रहता है किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्षकी अवस्थामें वह क्रियाशील हो जाता है और स्वलक्षणो को बुद्धिके सहारे समझता है। तब बुद्धिजनित कल्पनाएँ स्वलक्षणपर सामान्य लक्षण (यहा नीलेपन)का आरोप करती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष होता है। वैभाषिकके अनुसार 'नीलापन' असत्य है। किन्तु

'नीलेपन'को बिल्कुल असत्य नही कहा जा सकता क्योकि 'नीलेपन'में स्वलक्षण (अर्थात् नीले रग)की सत्यता निहित रहती है।

हरेक वस्तु 'अनेक'की राशि है। उसमें 'एक'की जो प्रतीति होती है वह व्यावहारिकताकी दृष्टिसे तो ठीक है किन्तु परम दृष्टिसे असत्य है। हरेक पदार्थ अपने अवयवोका स्कन्ध होता है। वैभाषिक अवयवो-के स्कन्धको ही पदार्थ मानते है। यहा उनका नैयायिकोसे मतभेद है। नैयायिक पदार्थको अवयवोका स्कन्ध न मानकर अवयवोसे अतिरिक्त अवयवीकी स्थापना करते है यद्यपि अवयवीकी सत्ता असिद्ध है। 'एक' की प्रतीति मात्रसे अवयवीकी सिद्धि नही हो सकती क्योकि 'एक' अपने आपमें ही सिद्ध नही है। वैभाषिक अवयवके लिए परमाणु शब्दका प्रयोग करते है। स्थूल पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म अवयव परमाणु है। परमाणुओका स्कन्ध ही पदार्थ है। वैभाषिकके दृष्टिकोणको परमाणुवादी भी कहा जा सकता है।

जगत्के सारे पदार्थ या तो भूत और भौतिक (भूतोसे निर्मित) है अथवा चित्त या चैत्त (चित्तके विकार, जैसे दु ख, मोह आदि)। विज्ञान स्कन्धको चित्त कहा जाता है। शेष चारो स्कन्ध—वेदना, सज्ञा, रूप, सस्कार—चैत्त अर्थात् चित्तके विकार माने गए है। रूप स्कन्ध भौतिक है, फिर उसे चैत्त कैसे माना जा सकता है? इसे समझनेमें कठिनाई होती है। इसका समाधान यो किया गया है कि चू कि इन्द्रिया पुद्गलसे बनती है इसलिए पुद्गलको ज्ञाताके अनुरूप माना जा सकता है।

(ख) सौत्रान्तिक

सूत्रान्त या बुद्धके वचनोके आधारपर विकसित होनेसे इस शाखाका नाम सौत्रान्तिक पडा। इसका प्रवर्तक कुमारलब्ध (२५६ सवत्) है।

सौत्रान्तिक भी बाह्य जगत्की सत्ताको मानता है। लेकिन बाह्य जगत्की सत्ताका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा होता है—इसे वह नहीं मानता। चार्वाक ने केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण माना था। बौद्ध प्रत्यक्षके अतिरिक्त अनु-

मानको भी प्रमाण मानते हैं। सदेह करना एक सीमा तक ही ठीक है। यदि सदेह अनुभवके विरुद्ध जाने लगे तो उसे छोड देना चाहिए—**'व्याघाता-वधिराशङ्का'**। अनुमानमें सदेह करना अनुभवके विरुद्ध है। अनुमान व्याप्तिपर निर्भर होता है। धुआ आगसे अलग कभी नही देखा गया है। धुएँ और आगमें व्याप्य-व्यापक भाव है। व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा प्राप्त ज्ञानको व्याप्ति ज्ञान कहते है। व्याप्ति दो जगह होती है। एक तो तदुत्पत्ति सबधमें, अर्थात् कारण और कार्यके सम्बन्धमें, दूसरे तादात्म्य सम्बन्धमें, अर्थात् जाति और व्यक्तिके नित्य सम्बन्धमें। कोई पशु घोडा न हो यह तो सम्भव है, किन्तु प्रत्येक घोडा पशु जातिके अतर्गत ही होगा।

क्षणिकवादके सिद्धान्तके अनुसार जिस समय वस्तुओका प्रत्यक्ष होता है उस समय वे विद्यमान नही रह सकती। यदि वस्तुएँ वस्तुत क्षणिक हैं तो केवल बीती वस्तुका ही ज्ञान हो सकता है। प्रत्यक्ष द्वारा जो कुछ जाना जाता है वह विद्यमान तो रहता है किन्तु उसके विद्यमान रहनेके समय उसका प्रत्यक्ष नही होता। प्रत्यक्षके समय वाह्य वस्तुओ-का प्रवाह ही सम्मुख होता है और उसके आकारके आधारपर ही उससे पहलेकी वस्तुका अनुमान किया जाता है। प्रत्यक्ष वास्तवमें अनुमान द्वारा होता है और बीती वस्तुका ही होता है। इस प्रकार स्वलक्षणोका ज्ञान प्रत्यक्षसे न होकर अनुमान द्वारा ही हो सकता है।

वैभाषिकने सौत्रान्तिकके इस मतका कि वाह्य वस्तुओकी उपस्थिति अनुमान द्वारा जानी जाती है खण्डन किया है। वह सौत्रान्तिकके इस मतको अनुभवके विरुद्ध वतलाता है। अनुमान व्याप्तिके आधारपर किया जाता है। व्याप्ति अनुभव और अवेक्षण (देखने) पर निर्भर है इसलिए अवेक्षणको अनुमान नही कहा जा सकता। प्रत्यक्षकी क्रिया और वस्तुकी उपस्थितिका समय एक ही होता है।

सौत्रान्तिक स्वलक्षणोको अनुभवकी व्याख्या करनेके लिए केवल एक मान्यताकी भाति लेता है। विज्ञानोके अनुभवके साथ 'वाह्यता'का

अनुभव भी होता है। हम जिस वस्तुका प्रत्यक्ष करते हैं उस वस्तुका अनुभव यदि हमारे विज्ञानका ही विकार होता तो उस वस्तुके अनुभवके साथ उस वस्तुकी 'बाह्यता'का अनुभव कैसे हो सकता है? बाह्यता विज्ञानोमें न मानकर वस्तुओमें ही माननी पडती है, और इस प्रकार बाह्य जगत्की स्वतन्त्र सत्ताको भी मानना पडता है। शेष सब बातोमें सौत्रान्तिकका मत वैभाषिकके समान ही है।

× × ×

सर्वास्तित्ववादी पाच स्कन्धोके अतिरिक्त और किसी वस्तुको सत् नही मानते। पाचो स्कन्ध सत् तो है किन्तु वे प्रतीत्यसमुत्पादके सिद्धान्तके अनुसार परिवर्तनशील होनेसे क्षणिक है। बौद्ध सत्पदार्थ उसे मानते है जिसमें अर्थक्रियाकारित्व अर्थात् कुछ करनेकी क्षमता हो। असत्पदार्थ वह है जो कुछ नही करता। सत्पदार्थ प्रतिपल उत्पत्ति करता रहता है। सत्पदार्थका यह लक्षण ही क्षणिकवाद है। जो सत् है वह क्षणिक है—'यत्सत् तत्क्षणिकम्'। बौद्ध परिवर्तनको सम्पूर्ण और अविच्छिन्न मानते है। बीज वृक्षका कारण है किन्तु सम्पूर्ण परिवर्तन होनेसे बीजका कार्य पूरा होनेके बाद उसका निरन्वयनाश हो जाता है। परिवर्तनमें अविच्छिन्नताका अर्थ यह है कि बीजमें वृक्ष उत्पन्न करनेकी क्षमताको तुरन्त कार्य करना चाहिए। तुरन्त उत्पादन करनेके अतिरिक्त उत्पादन करनेकी क्षमताका कोई अर्थ नही है।

साधारणत बौद्धोने वीथीका अन्त नही माना है। किन्तु वे इसके एक दो अपवाद मानते है। मृत्युके बाद जब अर्हत निर्वाण प्राप्त करता है तब वीथी रुक जाती है। विज्ञानवीथीके रुक जानेको प्रतिसख्यानिरोध कहते है। प्रतिसख्या शब्दका अर्थ विज्ञानवीथीको रोक देनेवाला ज्ञान या बोध है। गहरी नीद आदिमें विज्ञानवीथीके रुक जानेको अप्रतिसख्यानिरोध कहते है। हीनयान प्रतिसख्यानिरोधको ही जीवनका लक्ष्य मानता है।

प्रतिसख्यानिरोधकी आलोचना भी की गई है। विज्ञानवीथीके रुक जानेका अर्थ है कि उसकी अन्तिम कडी कुछ और उत्पत्ति नही करती। यह अर्थक्रियाकारित्वके विरुद्ध है, इसलिए विज्ञानवीथीकी अन्तिम कडी असत्य हो जाती है। अन्तिम कडीकी असत्यता उससे पहलेकी कडियोकी असत्यता सावित करती है। इस प्रकार पूरी वीथी ही असत्य हो जाती है। फिर या तो विज्ञानवीथी असत्य है या उसका रुक जाना निर्वाण नही है।

महायान संप्रदाय

महायान सप्रदायका उदय हीनयान सप्रदायके विरुद्ध प्रतिक्रियासे हुआ। महायानने हीनयानके अर्हतके स्थानपर वोधिसत्त्वका आदर्श स्थापित किया। वोधिसत्त्व आदर्शके अनुसार जीवनका लक्ष्य अपने आपको मुक्त कर लेना ही नही है वरन् अपनी मुक्तिके वाद दूसरोकी मुक्तिके लिए भी सतत उपाय करते रहना है। हीनयानकी दृष्टि व्यक्ति तक ही सीमित थी। महायानने उसको सार्वभौमिक रूप दे दिया। हीनयानकी निवृत्तिके स्थानपर महायानने प्रवृत्तिको अपनाया। हीनयानके मतसे 'विनय'के अनुसार आचरण वनानेसे ही मनुष्य 'वुद्ध' हो सकता है। महायानका विश्वास है कि 'वुद्ध' मनुष्यका जन्मजात गुण है। यदि उसका उचित विकास किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य 'तथागत'की श्रेणीको प्राप्त कर सकता है। अपने इन्ही उदार विचारोके कारण महायान अपने नामको सार्थक कर अत्यन्त विख्यात हो सका। महायान वाह्य वस्तुओकी सत्तामें विश्वास नही करता। महायानके अतर्गत भी दो शाखाएँ है माध्यमिक और योगाचार।

(ग) माध्यमिक

इस शाखाका प्रवर्तक नागार्जुन है। नागार्जुनका समय २०० सवत् के लगभग है। मध्य मार्गका अनुसरण करनेके कारण ही इस शाखाका नाम माध्यमिक पडा।

सर्वास्तित्ववादियोने बाह्य वस्तुओकी निरपेक्ष सत्तामें विश्वास किया था। माध्यमिकके मतसे सत्ताविषयक सभी धारणाएँ विरोधाभासोसे भरी होनेके कारण असगत है। अपने ग्रन्थ मूलमाध्यमिककारिकामें नागार्जुनने विविध धारणाओका विश्लेषण करके उन्हें असगत बताया है।

प्रतीत्यसमुत्पादके आधारपर बौद्ध उत्पत्तिमें विश्वास रखते है। नागार्जुनने उत्पत्तिकी धारणाको असगत बताया है। यदि भावपदार्थ अपनेसे उत्पन्न होते है तो उत्पत्तिका कोई अर्थ नही हो सकता क्योकि इस प्रकार कोई नवीन वस्तु उत्पन्न न हो सकेगी। जो पदार्थ पहलेसे ही है उनकी उत्पत्तिका प्रयोजन ही क्या हो सकता है? यदि भावपदार्थ अपनेसे भिन्न पदार्थोको उत्पन्न करते है तो ऐसी दशामें किसी वस्तुसे कोई भी वस्तु उत्पन्न हो सकती है। भावपदार्थोकी उत्पत्तिको अकारण बतलाना भी असगत है। यदि पदार्थ विना किसी कारणके उत्पन्न हो सकते तो सब जगह सब पदार्थोकी उत्पत्ति सभव होती।[1] इससे स्पष्ट है कि भावपदार्थोकी उत्पत्ति समझमे नही आती। इसी तरह कारण-कार्य, स्थिति, गति आदिका विश्लेषण करके उनको भी असगत बताया गया है।

सर्वास्तित्ववादी पाचो स्कन्धोकी सत्ताको निरपेक्ष मानते थे। माध्यमिकके अनुसार उनकी सत्ता सापेक्ष है। कर्म करनेवालेके विना नही हो सकता। कर्मके साथ उसका करनेवाला भी होना चाहिए। कर्म और उसका कर्त्ता दोनो अपनी अपनी सिद्धिके लिए एक दूसरेकी अपेक्षा रखते है।[2] सत्ताकी सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नही। अशाश्वतता और परिवर्तनशीलतामें जिस सत्ताकी प्रतीति होती है वह भी निरपेक्ष नही है क्योकि कार्यकी सत्ता कारणकी सत्ताकी अपेक्षा रखती है। चन्द्रकीर्तिने इसीलिए नागार्जुनकी कारिकाओपर टीका करते हुए प्रतीत्यसमुत्पादका

१ दे०, नागार्जुनकी पहली कारिका पर बुद्धपालितका भाष्य।

२ दे०, माध्यमिककारिका, ८, १२-१३.

अर्थ किया है 'हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद'। प्रतीत्यसमुत्पाद केवल सकारणता और परिवर्तनका ही सिद्धान्त नही है, वह सत्ताकी सापेक्ष सिद्धि मानकर निरपेक्ष सत्ताका खण्डन भी करता है।

प्रतीत्यसमुत्पादके अनुसार न तो कोई वस्तु शाश्वत है और न ही किसी वस्तुका उच्छेद होता है। परिवर्तनकी आडमें नित्यता या अनित्यता देखना दोनो ही गलत हैं। नित्यता देखनेका अर्थ है वस्तुओको शाश्वत मानना और अनित्यता देखनेका अर्थ है उनका विनाश मानना। यह एकान्तवाद है और प्रतीत्यसमुत्पादकी सार्थकता नित्य-एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद माननेमें नही है।[1] निरपेक्षत न तो सत्ता है और न अभाव[3], प्रत्युत कर्मके लिए जिस प्रकार कर्त्ताकी अपेक्षा है उसी प्रकार कर्त्ताको कर्मकी अपेक्षा है। दोनोकी सत्ता उनकी सापेक्षतापर ही निर्भर करती है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तनका नियम ही नागार्जुनके मतसे प्रतीत्यसमुत्पाद है। और प्रतीत्यसमुत्पादको ही नागार्जुनने शून्यवाद कहा है—य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता ता प्रचक्ष्महे।'[2]

माध्यमिकमें भ्रमकी व्याख्या असतख्यातिसे की जाती है। सीपमें चादीका भ्रम होता है। जहा चादी नही है वहा चादी दिखाई पडती है। यही असतख्याति है। ख्याति शब्दका अर्थ है ज्ञान। जगत्की ख्याति (ज्ञान) भी असत् है। ज्ञानका महत्त्व इसीमें है कि वह हमें आकाक्षित वस्तुकी प्राप्ति (प्रापकत्व) करा दे।

शून्यवादको वहुत गलत समझा गया है। हिन्दू आलोचकोने शून्य का सीधा अर्थ 'अभाव' लेकर वडी भ्रान्ति फैलाई है। सत्यको वुद्धि द्वारा न समझ सकनेकी विवशता[4] और उसकी सापेक्ष सिद्धिको ही नागा-

१ दे०, वही, १५, १०.

२ दे०, ललितविस्तर, परि० २५.

३ तुलना कीजिए, शून्या सर्वधर्मा निस्स्वभावयोगेन (प्रज्ञापारमिता)

४ दे० वोधिचर्यावतार, ६, २.

र्जुनने शून्यवाद नाम दिया है। सत्य वही है जिसका अपना स्वभाव हो, जो अकृतक और परत्रनिरपेक्ष हो।[1] कारण-कार्य, स्थिति, गति आदिको असगत बतानेमें नागार्जुनका यह अभिप्राय नही था कि गति, स्थिति आदिका अनुभव ही नही होता। उनका अनुभव तो अवश्य होता है किन्तु उन्हें बुद्धि द्वारा नही समझा जा सकता। बुद्धिगम्य न होनेसे सत्ता अनिर्वचनीय है और जो अनिर्वचनीय है वह शून्य है।[2] बुद्धि हमें सत्यका सच्चा स्वरूप नही दिखला सकती। बुद्धिजनित धारणाएँ सत्य-को नहीं पकड सकती। सत्य बुद्धि-प्रवेश-वर्जित-प्रदेश है और यही शून्यवाद है।

(घ) योगाचार

इस शाखाके प्रवर्तक असग और वसुबन्धु है। ये दोनो भाई थे। इनका समय ३५० सवत् बताया जाता है। यह शाखा यौगिक-क्रियाओंमें आस्था रखती है और मानती है कि बोधिकी प्राप्ति योगाभ्यास द्वारा ही हो सकती है। इसीलिए इसका नाम योगाचार पडा।

माध्यमिकने सत्ताको सापेक्ष बताकर शून्यवादकी स्थापना की थी। योगाचार बाह्य सत्ताको तो शून्य मानता है किन्तु योग-प्रक्रियाओंमें

१ दे०, माध्यमिकवृत्ति, पृ० ४०३.

२ विश्वके पीछे इसी अनिर्वचनीय तत्त्वको अश्वघोष ने 'भूततथता' कहा है। नागार्जुनके विपरीत अश्वघोषकी यह व्याख्या भावात्मक है। कहा जाता है कि नागार्जुन अश्वघोषका शिष्य था। अश्वघोष कनिष्कका समकालीन था। अश्वघोषने बुद्धचरित नामक काव्यग्रन्थ लिखा है जो बहुत उच्च कोटिका काव्य है। कविके साथ अश्वघोष गायक भी था। उसने रासतवर नामक एक वाद्य यन्त्रका भी आविष्कार किया था जिसके द्वारा वह लोगोको अपना अनुयायी बनाता था। इस यन्त्रके स्वरोंमें ऐसी करुणा थी जो लोगोंको संसारके दुःखों, उसकी निस्सारता और नैरात्म्यताका बोध कराती थी।

आस्था रखनेके कारण विज्ञान (चित्त) की सत्ताको शून्य या सापेक्ष नही मानता ।[१] योगाचार वाह्यजगत्की सत्ताको तो विज्ञानसापेक्ष मानता है किन्तु स्वय विज्ञानोको निरपेक्ष मानता है ।

सौत्रान्तिकने वाह्य वस्तुओका प्रत्यक्ष न मानकर केवल विज्ञानोका ही प्रत्यक्ष माना था । योगाचारका मत है कि जव वाह्य जगत्का प्रत्यक्ष नही होता तो उसकी सत्ता मानना भी व्यर्थ है । योगाचारने स्वलक्षणोका प्रत्यक्ष न होनेसे उनकी सत्तासे ही इनकार कर दिया । प्रत्यक्ष केवल विज्ञानोका ही होता है इसलिए विज्ञान ही सत्य है । विज्ञानोकी सत्यताको माननेसे योगाचारको विज्ञानवाद भी कहते है ।

वाह्य जगत् विज्ञानोका परिणाम है । विज्ञान परिणाममें कार्यकी उत्पत्ति कारणक्षणके निरोधके समय ही होती है और कारणक्षणसे विलक्षण भी होती है ।[२] विज्ञप्ति मात्रता ही परम सत्य है । उसमें ग्राह्य-ग्राहक भेद नही होता । विज्ञप्ति मात्रताको आलयविज्ञान कहते हैं क्योकि सारी वस्तुओकी सत्ता उसीपर आश्रित है । विज्ञप्तिमात्रतामें एक शक्ति निहित रहती है जिसके सन्तानसे विज्ञप्तिमात्रतामें तीन तरहका परिणाम होता है विपाक, मनन और विषयविज्ञप्ति । विपाक परिणाम अपरिच्छिन्न और आलम्बनाकार होते हैं और उनमें सुख-दु ख आदिकी अनुभूति नही होती । विपाक परिणाम मनस्की उस अवस्थाको बताते है जब उसमें विवेक और उसकी विभिन्न क्रियाएँ सुषुप्तावस्थामें पडी रहती हैं । मनन परिणाम सत्कायदृष्टि (नित्य दृष्टि)से युक्त होता है और उसमें मोह, राग, द्वेष आदि उत्पन्न होते रहते हैं । विषयविज्ञप्ति

१ यो बालैरधर्माणा स्वभावो ग्राह्यग्राहकादि परिकल्पितस्तेन कल्पितेनाऽत्मना तेषा नैरात्म्य न त्वनभिलाप्येनात्मना यो बुद्धाना विषय इति (विंशिका पर टीका, पृ० ६)

२ कारणक्षणनिरोधसमकाल· कारणक्षणविलक्षणकार्यस्य आत्मलाभः परिणाम· (त्रिंशिका ५ स्थिरमतिका भाष्य, पृ० १६).

परिणाममें रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (मानसिक विकार) की प्रतीति होती है।

माध्यमिक विज्ञप्तिमात्रताकी कडी आलोचना करते है। उनके मतसे स्वसवित्ति (विज्ञप्तिमात्रता) हो ही नही सकती क्योकि कोई चीज स्वय अपने ऊपर क्रिया नही कर सकती। उँगली स्वय अपनेको नही छू सकती, चाकू स्वय अपनेको नही काट सकता। इसके उत्तरमें सौत्रान्तिकोका कहना है कि ज्ञाता स्वय ज्ञेय हो सकता है और स्वसवित्ति सभव हो सकती है। यह ठीक है कि उँगली अपने आपको नही छू सकती, किन्तु दीपक दूसरी वस्तुओके साथ साथ अपने आपको भी प्रकाशित करता है।[1]

सौत्रान्तिकने वाह्य सत्ताको विषयविज्ञप्ति (अर्थात् वाह्य वस्तुओ) की व्याख्या करनेके लिए माना था। योगाचार विषयविज्ञप्तिके लिए वाह्य सत्ताकी स्थापना करनेको अनावश्यक समझता है। यदि विज्ञानमात्र ही सत्य है तो सव कुछ मस्तिष्कके अन्दर ही होना चाहिए। फिर वस्तुओमें वाह्यता (वाहरपन)का जो अनुभव होता है वह कहासे आता है? योगाचारके अनुसार वाह्यताका अनुभव भी द्रव्य, गुण आदिकी भाति वुद्धिकी कल्पनामात्र ही है। वाह्यता वस्तुओमें नही होती, हमारी वुद्धि ही उनमें वाह्यताका आरोप करती है।[2] ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानमें ज्ञान ही सत्य है। ज्ञाता और ज्ञेयका भेद वाह्यताकी अपेक्षासे ही होता है। वाह्यता वुद्धिकी कल्पनामात्र है इसलिए ज्ञाता और ज्ञेयका भेद मृगमरीचिका है। 'मै हूँ' इस ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेय एक ही वस्तु है। इसी प्रकार सारे विज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनो ही है। ज्ञाताकी दृष्टिसे देखनेपर विज्ञान सतान 'आत्मा' प्रतीत होता है और ज्ञेयकी दृष्टिसे देखनेपर वस्तुओका स्कन्ध। ज्ञाता और ज्ञेय दो पृथक् वस्तुएँ नही है। उनमें

---

१ दे०, वोधिचर्यावतार, ९, १५.

२ दे०, लकावतारसूत्र, पृ०, ८५.

सहोपलम्भ नियम है। नीला रग और नीले रगका विज्ञान साथ साथ ही अवगत होते है। यदि उनमें भेद होता तो उनका अनुभव भी साथ साथ न ोकर अलग अलग ही होता। ज्ञाता और ज्ञेयका भेद भ्रम है।

यहा हमें भ्रम और कल्पनाका अर्थ समझ लेना चाहिए। भ्रमकी भाति कल्पना भी असत्य होती है, किन्तु प्रत्यक्षमें कल्पना सदा उपस्थित रहती है। कल्पना प्रत्यक्षकी शर्त है। भ्रम कभी कभी होता है और उसका आश्रय व्यक्ति विशेष ही होता है।

योगाचार भ्रमको आत्मख्याति कहता है। सीपमें चादीका और रस्सीमें सापका भ्रम क्यो होता है? योगाचारके अनुसार हमारे विज्ञान ही कल्पनाकी सहायतासे वाह्यता ग्रहण कर चादी और सापकी भाति दिखाई देने लगते है। आत्मख्यातिके आलोचकोका आक्षेप है कि जिस वस्तुका भ्रम होता है उसके सत्यका अनुभव भी पहले कही न कही हो चुका होता है। जिस वस्तुका कभी अनुभव ही नही हुआ है उसका भ्रम भी नही हो सकता।

योगाचारने वाह्य सत्ताको अस्वीकार तो कर दिया किन्तु व्यावहारिकताके दृष्टिकोणसे वाह्य जगत्की सत्ताको मानना आवश्यक था। योगाचारने व्यावहारिकताके लिए वाह्य जगत्की सत्ताको माना तो, किंतु उसे 'उपचार' कहा। जो वस्तु जहा न हो उसका वहा आरोप कर देना 'उपचार' है। तिमिर रोगीके सामने केश, जाल इत्यादि नही होते फिर भी उसे उनकी प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाह्य सत्ताके न होने पर भी रूप, शब्द आदिकी प्रतीति हुआ करती है।[१] वस्तुत विज्ञानके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है। हमारी बुद्धि वस्तुओका

---

१ उपचारस्य च निराधारस्याऽसम्भवाद् अवश्य विज्ञानपरिणामो वस्तुतोऽस्तु उपगन्तव्यो यत्र आत्मधर्मोपचार प्रवर्तते। न हि निरास्पदा मृगतृष्णिकादय। (तुलना कीजिए, गौडपादकारिकाओ पर शंकरभाष्य)

साक्षात् नही करती प्रत्युत वह उनकी रचना करती है। विज्ञानवीथीकी सख्या अपरिमित माननेसे योगाचार ज्ञातावादी होते हुए भी अनेकवादी है।

रूपादि पदार्थ जहा और जिस समय होते है वही और उसी समय उनका अनुभव भी होता है। आक्षेप उठता है कि यदि रूपादिकी वाह्य सत्ता सचमुच नही है तो वे किसी स्थान और किसी कालविशेपमें ही क्यो दिखाई देते है ? सब कही क्यो कही दिखाई देते !

इसके उत्तरमें योगाचार स्वप्नका उदाहरण देता है। स्वप्नमें वाह्य पदार्थोके न होनेपर भी उनकी प्रतीति होती है तथा स्थान और काल-विशेपका भी अनुभव होता है। स्वप्नके इस उदाहरणपर भी आक्षेप किया गया है। स्वप्नके पदार्थ वाह्यता नही रखते—यह ज्ञान जाग्रता-वस्थाकी अपेक्षासे प्राप्त होता है। यदि जाग्रतावस्थाको भी स्वप्न मान लिया जाय तो स्वप्न और जाग्रतावस्थामें कोई अन्तर नही रह जाता और इसलिए स्वप्नका उदाहरण भी नही दिया जा सकता।

न्याय-वैशेषिक

'न्याय' शब्दका अर्थ है वाद-विवाद करना। न्यायका शाब्दिक अर्थ है 'पीछे जाना' अर्थात् किसी चीजको समझनेके लिए उसकी जड तक पहुँचनेका प्रयास करना। न्यायमें हमें वाद-विवाद करनेके नियम मिलते है। गौतमका 'न्याय सूत्र' सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। गौतमका समय ४७० सवत् पूर्वके लगभग माना जाता है।[१] न्यायसूत्रोपर वात्स्यायनका 'न्यायभाष्य' और उद्योतकरका 'न्यायवार्तिक' माननीय टीकाएँ है।

प्रत्येक ज्ञानमें चार शर्तें होती हैं प्रमातृ अर्थात् जाननेवाला, प्रमेय अर्थात् जानी गई वस्तु, प्रमिति अर्थात् जाननेकी क्रिया और प्रमाण अर्थात् जाननेका साधन। प्रमाण चार है, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान।

प्रत्यक्षका अर्थ है किसी वस्तुका साक्षात् होना।[२] प्रत्यक्ष ज्ञान आत्माका मनस्से, मनस्का इन्द्रियोसे और इन्द्रियोका विषय अर्थात् जाननेवाली वस्तुसे सयोग होनेपर होता है। प्रत्यक्षमें मनस्का सक्रिय रहना आवश्यक है। मनस् यदि जागरूक न रहे तो हम आखें खुली रहने पर भी नही देख सकते।

प्रत्यक्ष दो प्रकारका होता हैं निर्विकल्पक और सविकल्पक। किसी वस्तुको देखनेपर पहले हमें उसका आकार, रूप आदि दिखाई देता है, फिर हम बुद्धिकी सहायतासे उस वस्तुका नामकरण करते है। बुद्धिकी क्रिया होनेसे पहले इन्द्रियो और वस्तुओके सम्पर्कमात्रसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। तत्पश्चात् जब बुद्धि द्वारा

---

१ दे०, विद्याभूषण कृत History of Indian Logic.

२ दे०, गगेश, प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्व लक्षणम्।
(तत्त्वचिंतामणि पृ० ५५२)

गन्धका आभास मिल जाता है चाहे गुलाब हमसे दूर ही क्यो न हो, तीसरा यौगिक प्रत्यक्ष है जो मनुष्यको अदृष्टिगोचर वस्तुओ—परमाणु, धर्म आदि-का साक्षात् कराता है। अलौकिक प्रत्यक्षको असगत मानकर एक आपत्ति यह की गई है कि अलौकिक प्रत्यक्षको माननेसे प्रत्येक वस्तुका प्रत्येक समय प्रत्यक्ष होना चाहिए किंतु यह अनुभवके विरुद्ध है।

अनुमानका शाब्दिक अर्थ है 'किसी वस्तुसे नापना।' अनुमान अन्य ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। अनुमान तीन प्रकारसे होता है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। हमने पहले एक गायको देखा था। अब हम उसी गायके सदृश दूसरे पशुको देखकर उसको भी गाय कह देते हैं। सादृश्यका यह आरोप ही पूर्ववत् अनुमान है। कारणको देखकर कार्यका अनुमान कर लेना, घुमडती घटाओको देखकर वर्षा होने-का अनुमान कर लेना भी पूर्ववत् है। शेषवत् अनुमानमें कार्यको देखकर कारणका अनुमान किया जाता है, जैसे नदीकी बाढको देखकर बहुत वर्षा हो चुकनेका अनुमान करना। सामान्यतोदृष्टमें भौतिक जगत्के दृष्टान्तके आधारपर अभौतिक अथवा उन वस्तुओको जाननेकी कोशिश की जाती है जो इन्द्रियोसे नही जानी जा सकती। ईश्वरविषयक सभी धारणाएँ सामान्यतोदृष्ट अनुमानपर ही आधारित है।

अनुमान दो प्रकारका होता है—स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने अनुभवसे प्राप्त किया जाता है और परार्थानुमान दूसरोको समझाने के लिए होता है। परार्थानुमानमें पाच अवयवोके वाक्यकी आवश्यकता पडती है किंतु स्वार्थानुमानके लिए तीन अवयव ही काफी होते है।

पाच अवयव ये है

१ पहाडपर आग है।
२ क्योकि वहा धुआ है।
३ जहा धुआ होता है वहा आग होती है।
४ पहाडपर धुआ है जो सदा आगकी उपस्थिति बताता है।
५ इसलिए पहाडपर आग है।

पहला अवयव प्रतिज्ञा कहलाता है । दूसरेको हेतु, तीसरेको उदाहरण, चौथेको उपनय और पाचवेंको निगमन कहते है । पहले अवयवमें पहाड़-पर आगका होना सिद्ध करना है, इसलिए पहाड तो 'पक्ष' हुआ और आग 'साध्य ।' धुएँका होना आगके होनेसे व्याप्त है इसलिए धुएँ और आगमें व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । आग व्यापक है और धुआ व्याप्य । दूसरे अवयवमें पहाडपर व्याप्य या धुएँकी उपस्थिति बताई गई है । पक्षमें व्याप्यके होनेको 'पक्षधर्मता' कहते है । तीसरे अवयवमे धुएँ और आगका सदा एक साथ होना बताया गया है । इसे 'व्याप्ति' कहते है । व्याप्तिके साथ पक्षधर्मताका ज्ञान 'परामर्श' कहलाता है जो चौथे अवयवमें है । परामर्शसे उत्पन्न ज्ञानको अनुमिति कहा जाता है । पहाडपर आग है— यह ज्ञान अनुमिति है ।

प्रमा (प्र = ठीक, मा = ज्ञान) तक पहुचनेका साधन प्रमाण कहलाता है ।[१] जानी हुई वस्तु प्रमेय कहलाती है और जाननेवाला प्रमाता । नैयायिक 'शब्द'को भी प्रमाण मानते है । 'शब्द'का प्रयोग दो अर्थोमें होता है । एक तो शब्द उस ध्वनिको कहते है जो कानोसे सुनाई पडती है और आकाशका गुण है । यहा 'शब्द'के इस अर्थसे तात्पर्य नही है । वर्णोकी ध्वनिसे जो अर्थ निकलता है वही शब्दप्रमाण है । शुरू शुरूमें पुराने विश्वासोका किसी ग्रन्थमें लिखा होना ही शब्दप्रमाण समझा जाता था किंतु बादको शब्दका अर्थ प्राचीनताके साथ साथ 'सगत्ति'का गुण होना अर्थात् परस्पर विरोध न होना समझा जाने लगा ।

शब्दप्रमाणके बिना काम नही चल सकता । जीवनमें किसी व्यक्ति-को सब कुछ अनुभव नही हो सकता । बहुत सा ज्ञान उसे आप्तजनोके अनुभवके आधारपर ही लेना पडता है । शब्द प्रमाणका उपयोग वहीपर होता है जहा अन्य प्रमाणोकी पहुच नही हो सकती ।

---

१ दे० उदयन, यथार्थानुभव प्रमा तत्साधन च प्रमाणम् ।
(तात्पर्यपरिशुद्धि)

शब्दोके समूहको वाक्य कहते है। वाक्यका अर्थ तभी समझमें आ सकता है जब उसमें आकाक्षा, योग्यता और सनिधि (समीपता) हो। यदि हम कहें 'लोटा, सुराही, गर्मी, प्यास' तो इसका कुछ भी अर्थ नही हुआ क्योकि इसमें 'आकाक्षा' नही है। यदि कहा जाय 'रोटी पियो' तो यह वाक्य भी निरर्थक है क्योकि इसमें 'योग्यता' नही है। यदि कोई 'पानी' कहे और थोडी देर बाद 'लाओ' कहे तो यह भी अप्रमाण होगा क्योकि इसमें 'सनिधि' अर्थात् समीपता नही है।

उपमान प्रमाण वस्तु और उसके नामके सबधका ज्ञान है। मान लीजिए कि हमने पहले नीलगाय नही देखी थी किंतु किसीने हमें बता दिया कि नीलगाय गायके समान ही होती है। अब हम गायके समान पशुको देखकर नीलगायका ज्ञान प्राप्त कर लेते है।[१] यही उपमान है। उपमानमें व्याप्ति ज्ञानका आश्रय लेनेकी कोई आवश्यकता नही है।

यहा तक हमने ज्ञानकी उत्पत्ति होनेकी विधि ही जानी है। किंतु ज्ञान सत्य कैसे होता है? ज्ञान सत्य होता नही, वह स्वभावत है ही सत्य। सत्यकी व्याख्या नही हो सकती। व्याख्या केवल भ्रम की ही हो सकती है। ज्ञान स्वत प्रामाण्य है, स्वयसिद्ध है। सत्यताकी कसौटी ज्ञान और वस्तुकी सवादिता है। यथार्थ ज्ञानकी उत्पत्ति तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे होती है किंतु प्रमाकी परख व्यावहारिक होती है। प्रमाकी असली परख व्यावहारिक सफलतामें है।[२] 'यह कुहरा नही है धुआ है'—यह ज्ञान तभी सत्य होगा जब पास जानेपर आग दिखाई पड जाय। ज्ञानकी परखको ज्ञानसे अलग व्यावहारिक सफलतामें माननेसे नैयायिक परत प्रामाण्यवादी ठहरते है।

---

१ दे०, हरिभद्र, प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्याद् अप्रसिद्धस्य साधनम्। उपमान समाख्यात यथा गौर् गवयस् तथा। (षड्दर्शन समुच्चय, २३)

२ दे०, न्यायसूत्र १।१।१७।

नैयायिकोका कार्यविषयक सिद्धान्त असत्कार्यवाद कहलाता है। उत्पत्तिसे पहले घटके अभावको घट-प्रागभाव (प्राग् = पहले + अभाव) कहा जाता है। प्रागभावका प्रतियोगी ही कार्य है। प्रतियोगिता एक प्रकारका सम्बन्ध है। घटकी उत्पत्ति घटके प्रागभावका नाश कर देती है। अभावको बतलानेसे भावपदार्थ उस अभावका प्रतियोगी कहलाता है। घटका होना घटके अभावका प्रतियोगी है। स्पष्ट है कि नैयायिक उत्पत्तिसे पहले कार्यकी उपस्थितिको नही मानते। यह मत साख्यके सत्कार्यवादके ठीक विरुद्ध है। कारण सत् होता है और कार्य असत्। सत्से असत्की उत्पत्ति होती है ऐसा नैयायिकोका मत है।

किंतु कारणकी परिभाषा[1] क्या है? जो कार्यके पहले नियमसे उपस्थित हो और जो अन्यथासिद्ध न हो उसे कारण कहते है।[2] अन्यथासिद्धका अर्थ है जिसकी पूर्ववर्तिता (पहले होना) वास्तविक कारणकी पूर्ववर्तितापर निर्भर हो। अन्यथासिद्धके कुछ प्रकार है[3] समवाय अर्थात् नित्य सम्बन्धकी दृष्टिसे कारणके गुण, कर्म आदि कारण नही हो सकते। दूसरे, कारणका कारण भी कारण नही हो सकता, जैसे ईश्वर, काल आदि। तीसरे, कारणकी वह सहकारी या समकालीन वस्तु भी, जो कारणसे समवाय सबध नही रखती, कारण नही हो सकती, जैसे, रूप प्रागभाव। घटके रूपका प्रागभाव कारणका समकालीन है और घटके कारणसे समवायसम्बन्ध न रखनेसे घटके रूपका प्रागभाव कारण नही है।

अन्य विचारधाराओमें दो कारण माने जाते है, उपादान और निमित्त। कार्यका उत्पादन करनेवाला कारण उपादान है। जो वस्तुएँ कार्यको उत्पन्न करनेमें सहायक होती है उन्हें निमित्त कारण कहते है, जैसे, कुम्हार

---

१ परिभाषा वस्तुओकी उस विशेषताको बताती है जो सबमें हो (लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वम्)

२ अनन्यथासिद्धत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम् (तर्कसग्रह, ३८)

३ दे०, विश्वनाथ, सिद्धान्तमुक्तावली १९–२२.

घटका निमित्त कारण है। नैयायिकोने उपादान कारणको समवायि और असमवायिमें बाटा है। समवायि कारण सदा द्रव्य ही होता है और असमवायि गुण या कर्म।

नैयायिक अवयवोके अतिरिक्त अवयवीकी सत्ताको भी मानते हैं। किसी वस्तुको उसके गुण, धर्मों आदि द्वारा जाना जाता है। रग, आकार आदिके आधारपर ही हम किसी वस्तुको नारगी कहते है। नैयायिकोका मत है कि नारगीकी सत्ता अलग है और उसकी वह सत्ता उसके रग, आकार आदिपर निर्भर नही करती। रग, आकार आदि नारगीके विशेष भाग है। यदि नारगीका प्रत्यक्ष उसके इन्ही विशेष भागो तक ही सीमित होता तो हम नारगीको कदापि नही जान सकते। इसलिए नारगी अपने अवयवोका समुदायमात्र ही न होकर एक अलग सत्ता भी रखती है।

अवयवीकी सत्तापर आक्षेप किया गया है। अवयवीकी सत्ता वाह्य सत्ताको सिद्ध करनेके लिए मानी गई थी। वाह्य पदार्थ परमाणुओके सयोगसे बनते है। इस सयोगका नतीजा अवयवी है। नैयायिक वैशेषिककी ही भाति परमाणुओको 'एक' और निरवयव मानते है। किंतु सयोग तो सावयवका ही हो सकता है। निरवयवका सयोग नही हो सकता। फिर परमाणुओको एक ओर तो निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका सयोग मानना कैसे सम्भव है? और विना अवयवोके सयोगसे अवयवी कैसे वन सकता है?[१]

नैयायिक कुछ वस्तुओको अमूर्त मानते है, जैसे, राग-द्वेष, सुख-दुख, ज्ञान और यत्न। ये सव जीवके गुण है। जीवकी सत्ता नैयायिक अनुमान द्वारा सिद्ध करते है। 'मैंने देखा', 'मै गया' आदि वाक्योमें 'मैं' हमारे भीतर जीव नामकी वस्तुके होनेका द्योतक है। जीवकी[२] सत्ता न मानने-

---

१ दे०, वसुवन्धु, विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, १३

२ दे०, न्यायभाष्य और न्यायवार्त्तिक १।१।१०।

पर वस्तुओकी स्मृति कैसे बनी रहती है यह समझना कठिन हो जायगा।[1] इन्द्रिया जीव नही है क्योकि यदि आख और आख द्वारा देखी गई वस्तु दोनो ही नष्ट हो जायँ तो भी उस वस्तुका ज्ञान बना रहता है और उस ज्ञानको आख या आखसे देखी हुई वस्तुका गुण नही कहा जा सकता।[2] जीव वह है जो इन्द्रियोका सचालन करता है और उनके द्वारा प्राप्त ज्ञान-की विभिन्नताका समन्वय कर उसको एकता देता है।[3] जीव सर्वस्य द्रष्टा, भोक्ता और सर्व अनुभवी (सवका अनुभव करनेवाला) है।

नैयायिक चेतनताको जीवका आवश्यक गुण नही मानते।[4] चेतनता जाग्रतावस्थामें जीव और मनस्के सयोगसे उत्पन्न होनेवाला गुण है।[5] जीव एक नित्यपदार्थ है। शरीरका निर्माण पूर्वकर्मोके आधारपर होता है और सुख-दु खका अनुभव भी शरीर द्वारा ही होता है।[6] किसी अदृष्ट शक्तिके प्रभावसे और पूर्वकर्मोके आधारपर (**पूर्वकृतफलानुबन्धात्**) शरीरका निर्माण होता है।[7] जीवका शरीरसे सम्बन्ध हो जाना जन्म और पृथक् हो जाना मृत्यु कहलाता है।[8]

दु खोसे छूट जाना ही मोक्ष है।[9] नैयायिक यह नही कहते कि मोक्षके उपरान्त जीवको नित्य आनन्दावस्था मिल जाती है क्योकि आनन्द के साथ दु खकी छाया सदा लगी रहती है। उद्योतकरके अनुसार मोक्ष-

१ दे०, न्यायभाष्य, ३।१।१४।

२ दे०, वही ३।२।१८।

३ दे० वही ३।१।१।

४ दे०, न्यायवार्त्तिक ३।२।२४।

५ दे०, न्यायभाष्य १।१।१०। पदार्थधर्मसग्रह, पृ० ६६।

६ दे०, न्यायभाष्य ३।१।२७।

७ दे० वही ३।२।६०–७२।

८ दे०, न्यायवार्त्तिक ४।१।१०।

९ दे०, न्यायभाष्य १।१।९।

के बाद यदि जीवको नित्य आनन्द प्राप्त होता है तो उसे नित्य शरीर भी प्राप्त होना चाहिए, क्योकि विना शरीरके आनन्द आदि किसीका भी अनुभव नही हो सकता ।[१] मोक्ष जीवकी सत्तात्मक अवस्था मात्र ही है जिसमें उसे सुख दु ख आदिकी अनुभूति नही होती । इस अवस्थाकी समानता स्वप्नरहित गहरी नीदसे की गई है (**सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभाववद् अपवर्ग**) ।[२]

ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिए नैयायिकोका प्रसिद्ध प्रमाण यह है –

कार्यायोजनधृत्यादे पदात्प्रत्ययत श्रुते ।
वाक्यात्सख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्यय ॥[३]

जगत् कार्य है तो उसका कर्त्ता भी होना चाहिए, परमाणुओको मिलाकर सृष्टिरचनाका आयोजन हुआ है तो उनको मिलानेवाला भी होना चाहिए, जगत्को धारण करनेवाला होना चाहिए नही तो नक्षत्र आदि गिर न पड़ें, वेदोका यथार्थ ज्ञान ईश्वरकृत होना चाहिए, श्रुति भी ईश्वरकी सत्ताका समर्थन करती है, वेदोमें वाक्य है उन वाक्योका रचनेवाला भी होना चाहिए, सख्याकी कल्पना करनेवाला होना चाहिए । इन तर्कोंके आधारपर ईश्वरकी सत्ता माननी चाहिए ।

आलोचकोका कहना है कि जगत्को 'कार्य' मान लेना तो जो सिद्ध करना है उसे पहलेसे ही सिद्ध मान लेना है । जगत्का 'कार्य' होना स्वयसिद्ध नही है । जगत्को सावयव होनेसे 'कार्य' मान लेना भी अनुचित है क्योकि प्रत्येक सावयव वस्तुका 'कार्य' होना आवश्यक नही है ।

× × × ×

---

१ दे०, न्यायवार्त्तिक १।१।२२ ।
२ दे०, माधव, सर्वदर्शनसग्रह ४।१।६३ ।
३ दे०, उदयन, कसुमाञ्जलि ५।१ ।

कणादने वैशेषिक सूत्रोकी रचनाकर वैशेषिक विचारधाराको जन्म दिया था। कणादका समय ४०० सवत् पूर्व अनुमान किया जाता है। वैशेषिक सूत्रोपर प्रशस्तपादका 'पदार्थधर्मसग्रह' मान्य ग्रन्थ है।

वैशेषिकमें सात पदार्थ माने गए है। पदार्थ वह है जिसका कोई नाम (पद) हो और जिसके विषयमें विचार (अर्थ) किया जा सके। ये सात पदार्थ है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।[१] इन सातोमें द्रव्य मुख्य है।

द्रव्य नौ है—पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, जीव और मनस्।[२] पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु अनुभवकी वस्तुओके कारण है। अनुभवकी वस्तुएँ भौतिक अर्थात् भूतोसे निर्मित होती है। पृथिवी-में गध, रस, रूप और स्पर्श गुण होते है। पृथिवी परमाणुओसे निर्मित होनेके कारण नित्य है क्योकि परमाणु नित्य होते है। किंतु कार्यरूपसे पृथिवी अनित्य है। अप् छूनेमें ठडा होता है और रूप और रस उसके गुण है। तेजस् छूनेमें गर्म होती है और उसका गुण रूप है। तेजस् भी परमाणुरूपसे नित्य और कार्यरूपसे अनित्य है। वायु रूपरहित है-किंतु उसके स्पर्शका अनुभव होता है। आकाशमें केवल शब्दका गुण है। आकाश 'एक', नित्य और व्यापक पदार्थ है।

पृथिवी, अप्, तेजस् और वायु अपनी नित्यदशामें परमाणुरूप होते है। परमाणुओका प्रत्यक्ष नही हो सकता इसलिए अपनी नित्यदशामें पृथिवी, अप्, तेजस् और वायुको इन्द्रियोसे नही जाना जा सकता।

काल और दिक् व्यवहारके कारण है। कालकी धारणाके विना अतीत भविष्य आदिका और दिक्की धारणाके विना पूर्व-पश्चिम आदि-का कोई अर्थ नही हो सकता। काल और दिक् 'एक', व्यापक और नित्य

---

१ द्रव्यो गुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायस्तथाभावः पदार्था सप्तकीर्तिताः॥

२ दे०, वैशेषिक सूत्र १।१।१५।

ह। व्यवहारका कारण होनेसे वे औपाधिक (उपाधिवाले) है। दिक् और आकाशमें अन्तर है। आकाश दिक्में व्याप्त एक सूक्ष्म द्रव्य है।

जीव अनेक है। जीवोकी अनेकता उनमें '**व्यवस्थातो नाना**' होनेके कारण ही मानी गई है।[१] वैशेषिककी जीवकी धारणा नैयायिकोके वहुत समीप है। अन्तर केवल यही है कि वैशेषिक, नैयायिकोके प्रतिकूल, जीवका प्रत्यक्ष नही मानते।[२] वैशेषिक जीवकी सत्ताको व्यावहारिक दृष्टिकोणसे कार्यमें ही मानते है।[३] चेतनता शरीर, ज्ञानेन्द्रियो या मनस्का गुण नही है। यदि चेतनता शरीर आदिका गुण होती तो मरनेके वाद भी मनुष्य चैतन्य रहता। इसलिए वैशेषिकको चेतनताके लिए जीवकी अलग सत्ता माननी पडती है।[४] जीवमें ज्ञान रहता है किंतु ज्ञानका रहना सयोगात्मक ही है, आवश्यक नही। ज्ञान और जीवकी सयोगात्मिकता स्वप्नरहित नीदसे सिद्ध होती है जहा जीव ज्ञानरहित हो जाता है। जीव होता तो नित्य और सर्वज्ञाता है किंतु ज्ञान उसे शरीरके द्वारा और शरीरके रहने तक ही प्राप्त होता है।[५]

मनस् परमाणुरूप और नित्य है, किंतु पृथिवी, अप् आदिकी भाति किसीकी उत्पत्ति नही करता। मनस् प्रत्येक जीवके होता है। मनस् द्वारा ही जीवको ज्ञानकी प्राप्ति होती है। मनस् ही जीवका इन्द्रियो और शरीरसे सम्वन्ध स्थापित करता है।

गुण पदार्थ द्रव्योके आश्रित रहते हैं—**गुणाश्रयो द्रव्यम्**। गुण किसी वस्तुके वोधक नही होते जैसा कि वौद्ध विचारधारामें माना गया है।

---

१ दे०, श्रीधर, न्यायकन्दली ८७–८८।

२ दे०, वशेषिक सूत्र ३।२।६।

३ दे०, सूत्र ३।२।४–१३।

४ दे०, पदार्थवर्नसग्रह पृ० ६९, सूत्र, ३, १, १९

५ अशरीरिणाम् आत्मनाम् न विषयाववोध. (न्यायकन्दली, पृ० ५७)

गुण अपने आप ही जाने जा सकते है। गुणोकी सख्या चौबीस है। जीव-के द्योतक सभी मानसिक और भौतिक गुण इन्हीमेंसे है।

रूप, रस, गन्ध, शब्द, परिणाम, द्वेष, दुख,
संख्या, स्नेह, स्पर्श, परत्व, प्रयत्न, बुद्धि, सुख।
सस्कार, सयोग, धर्म, गुरुता, पृथकत्व,
विभाग, अपरत्व, अधर्म, इच्छा, द्रवत्व।[१]

इनमेंसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शब्द, धर्म, अधर्म और सस्कार विशेष गुण है जिनके द्वारा वस्तुओमें भेद किया जाता है। सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग (सयोगका नाशक), परत्व, अपरत्व, गुरुत्व ये सामान्य गुण है। सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग और विभाग गुण सभी द्रव्योमें होते है। जीव में पाच सामान्य गुण और नौ विशेषगुण—बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार—होते है। जीवके इन गुणोका प्रत्यक्ष मनस् द्वारा होता है।

कर्मका अर्थ यहा गति है। जो नष्ट नही होता उसे गुण कहा गया है और जो नष्ट हो जाता है उसे कर्म कहा गया है। कर्म एक ही द्रव्य में रहता है, गुणरहित होता है और सयोग और विभागका अनपेक्ष कारण होता है।[२] वैशेषिक ध्रुवताको सत्यकी एक विशेषता मानते है। गतिके पाच प्रकार है उत्क्षेपण, आकुञ्चन, अवक्षेपण, प्रसारण और गमन। गति केवल मूर्त पदार्थोमें ही हो सकती है। आकाश, काल, दिक् और जीव अमूर्त पदार्थ हैं इसलिए उनमें गति नही है।[३] आश्चर्य है कि कणाद जीवको भी गतिहीन मानता था।

---

१ दे०, पदार्थधर्मसंग्रह, पृ० ६९.
२ दे०, वैशेषिक सूत्र १।१।१७।
३ दे०, सूत्र ५।२।२१ और २।१।२१।

सामान्य वह पदार्थ है जो प्रत्येक वस्तुमें सदा विद्यमान रहता है किंतु उसका ज्ञान किसी वस्तुके द्वारा ही होता है। अनेक वस्तुओमें पाए जानेवाले गुणविशेषको सामान्य नही कहते। सामान्य गुण न होकर एक अलग स्वतत्र पदार्थ है और नित्य, 'एक' और अनेकानुगत है। सामान्योमें 'सत्ता' सवसे वडी है।[१] सामान्य द्रव्य, गुण और कर्ममें रहता है।

जैनी सामान्यका आधार वाह्य जगत्को मानते है। वौद्ध ऐसा नही मानते क्योकि इससे 'अनेक' में 'एक' कैसे रह सकता है यह समझ सकनेकी कठिनाई पैदा हो जाती है। अगर सामान्य अनेकानुगत है तो जगत् विच्छृखलता मात्र हो जायगा, गायमें गायपनके अतिरिक्त भैसपन भी हो जायगा। वौद्धोके अनुसार जव हम किसी पशुको गाय कहकर सम्वोधन करते है तव हमारा यह अभिप्राय नही होता कि हम उसके गायपनको स्वीकार कर रहे है, हम वस्तुत उससे भैसपन आदिका इनकार करते हैं। सामान्य यदि व्यक्तियोमे अलग है तो उसका प्रत्यक्ष भी व्यक्तियोसे अलग होना चाहिए। यदि वह व्यक्तियोसे अलग नही है तो व्यक्तियोके साथ उसका भी नाश हो जाना चाहिए।

इन आक्षेपोके उत्तरमें वैशेषिकका कहना है कि सामान्यकी अभिव्यक्ति तो व्यक्तिमें होती है किंतु व्यक्तिके होने या मरनेसे सामान्यकी अभिव्यक्ति प्रकट या अप्रकट हो जाती है स्वय सामान्य नष्ट नही हो जाता। सामान्यकी सत्ताका अनुभव व्यक्तियोसे अलग होता है, इसलिए अनुभवके वलपर सामान्यको स्वतत्र सत्तावाला पदार्थ मानना चाहिए।[२]

'विशेष' वह पदार्थ है जिससे परमाणु अन्य परमाणुओसे अलग रहते है।[३] विशेष नित्य द्रव्यो—परमाणु, आकाश, काल आदि—में रहते है

१ दे०, सूत्र १।२।४।७–१०.

२ दे० शास्त्रदीपिका

३ दे० पदार्थधर्मसग्रह पृ० १३।

और अनन्त है।[१] शायद 'विशेष'की धारणाके कारण ही इस विचार-धाराका नाम वैशेषिक पडा है। आलोचकोके मतसे विशेषकी धारणा व्यर्थ है। यदि परमाणओको एक दूसरेसे भिन्न करनेके लिए असख्य विशेषोकी आवश्यकता पडती है तो विशेषोको भिन्न रखनेके लिए भी तो किसी पदार्थकी आवश्यकता होनी चाहिए। यदि विशेष अपने आप भिन्न रह सकते है तो परमाणु भी अपने आप भिन्न क्यो नही रह सकते ? विशेषकी धारणा अनवस्थादोषसे युक्त है।

समवाय नित्य सबंध है। वैशेषिक सम्बन्धोको सत्य मानते है। समवाय सम्बन्धवाली वस्तुएँ एक दूसरेसे अलग नही की जा सकती। इस प्रकार सम्बन्धित वस्तुओको अयुतसिद्ध कहा जाता है।[२] अयुतसिद्ध सम्बन्धके पाच प्रकार है : द्रव्य और गुणका सम्बन्ध, द्रव्य और कर्मका, सामान्य और विशेषका, परम वस्तुओ और विशेषका और समवायि कारण द्रव्य और उसके कार्य द्रव्यका। समवाय और सयोगमें अन्तर है। सयोग अलग हो सकनेवाला सम्बन्ध है।

अभाव वैशेषिकका अन्तिम पदार्थ है। अभावका अर्थ है किसी वस्तुका किसी स्थानपर न होना। अभावका अर्थ बिल्कुल ही न होना नही है। अभाव चार प्रकारका होता है . प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्यो-न्याभाव और अत्यन्ताभाव। प्रागभाव अनादि और सान्त होता है। उत्पत्तिसे पहले घटका अनादि प्रागभाव होता है जो घटकी उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाता है। प्रध्वसाभाव सादि (जिसका आदि हो) और अनन्त होता है। अन्योन्याभावका अर्थ है एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव होना। किसी वस्तुका न होना अत्यन्ताभाव है।

---

१ दे०, सप्तपदार्थी पृ० १२, विशेषस् तु यावन् नित्यद्रव्यवृत्तित्वाद् अनन्ता एव।

२ अयुतसिद्धानां आधार्याधारभूताना यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः (पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १४)

अभाव पदार्थको न माननेसे सब वस्तुएँ नित्य हो जायँगी। प्रागभाव-के विना सारी वस्तुएँ अनादि हो जायँगी, प्रध्वसाभावके बिना अनन्त हो जायँगी, अन्योन्याभावके विना वस्तुओमें भेद नही रहेगा और अत्यन्ता-भावके विना सब वस्तुओकी सत्ता सब जगह सम्भव हो जायगी, इसलिए अभावको मानना आवश्यक है।

खण्डोसे निर्मित सारी वस्तुएँ खण्डोसे ही उत्पन्न होती है और उनमें समवाय और सयोग सम्बन्ध होता है। अनुभवकी सारी वस्तुएँ खण्डोसे निर्मित होनेसे अनित्य होती है। अनित्यको नित्यके विना नही समझा जा सकता। किसी वस्तुको खण्ड खण्ड करनेकी सीमा होती है जिसके आगे उसके और खण्ड नही किए जा सकते। परमाणु वही सीमा है। परमाणु अगोचर और नित्य होते है। उनमें भीतर-बाहरका भेद नही होता। परमाणुओके चार प्रकार माने गए है जो स्पर्श करने, स्वाद लेने, देखने और सूघनेकी इन्द्रियोको उत्पन्न करते हैं। यद्यपि स्पर्श, स्वाद आदि गुण वस्तुओके नष्ट हो जानेपर लुप्त हो जाते है तथापि वे अपने परमाणुरूपमें सदा रहते है। दृश्यजगत् नष्ट हो जाता है किंतु परमाणु नवनिर्माणके लिए सदा बने रहते है। वैशेषिकके अनुसार परम परमाणुओ-में गति एक विशेष धर्म[1]से उत्पन्न होती है जिसका कारण अदृष्ट[2] है। परमाणु कार्यके उपादान कारण है।

पकनेपर कच्चे घडेका रग परिवर्तित हो जाता है। रगका यह परिवर्तन परमाणुओमें होता है या घडेमें ? वैशेषिकके मतसे परिवर्तन परमाणुओमें होता है। पकाते समय घडा परमाणुओमें विशीर्ण हो जाता है। गर्मीसे विशीर्ण परमाणुओका रग लाल पड जाता है और वे फिर घडेके रूपमें आ जाते है। इस प्रकार एक घडा नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है। इसे पीलुपाकवाद कहते है।

---

१ धर्मविशेषात् (सूत्र ४।२।७)।

२ सूत्र ५।१।१५; ५।२।७

इसपर नैयायिकोका आक्षेप है कि यदि सचमुच एक घडा नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है तो उसे पहलेवाला ही घडा नही समझा जा सकता। किंतु अनुभवमें तो घडा रग परिवर्तनके अतिरिक्त पहले ही सा रहता है। नैयायिकोके अनुसार रगका परिवर्तन परमाणुओ और घडे दोनोमें एक साथ ही होता है। इस मतको पिठरपाकवाद कहते है।

वैशेषिक सूत्रोमें ईश्वरका जिक्र नही है। परमाणुओमें गतिका कारण अदृष्टको माना गया है। कणादके वाद उसके अनुयायियोने वैशेषिक विचारधारामें ईश्वरका प्रवेश करा दिया।

वैशेषिकके अनुसार मोक्ष वह अवस्था है जिसमें जीवसे उसके नौ गुण छुट जाते है[१]। मोक्ष आनन्द और अनुभवसे रहित अवस्था है।

---

१ दे० माधव, अत्यन्तनाशो गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत्कणभक्षपक्षे मुक्तिस्तदीये (शंकरविजय)।

सांख्य-योग

साख्य विचारधारा बहुत ही प्राचीन है। कठ, श्वेताश्वतर और मैत्री उपनिषदोमें साख्यके विचार पाए जाते हैं। गीतापर भी साख्यकी छाप स्पष्ट है। साख्यके विचार चरकमें भी हैं। महाभारतकी अनुगीता-में भी साख्यके पुरुष और प्रकृतिका विवेचन मिलता है। किंतु इन सबका साख्य सेश्वर (ईश्वरको माननेवाला) हैं। अपने वैज्ञानीय रूपमें साख्य सेश्वर नही है। साख्यको वैज्ञानीय रूप कपिलने दिया था। कपिलका समय ४० सवत्पूर्वके लगभग माना जाता है। 'साख्य प्रवचन सूत्र' और 'तत्त्वसमास' कपिलकी कृतिया बताई जाती हैं। साख्यपर सबसे प्राचीन ग्रन्थ ईश्वरकृष्णकी 'साख्यकारिका' है। गौडपादने इन कारिकाओपर टीका लिखी है। साख्यसूत्रोपर विज्ञानभिक्षुका 'साख्य प्रवचन भाष्य' और साख्यकारिकाओपर वाचस्पति मिश्रकी 'साख्य तत्त्वकौमुदी' प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

साख्य न्याय-वैशेषिकके असत्कार्यवाद[1] को नही मानता। असत्कार्य-वाद उत्पत्तिसे पहले कार्यको असत् मानता है। साख्यका आक्षेप है कि जो असत् है उसे सत्तामें नही लाया जा सकता। यदि दही उत्पत्तिसे पहले असत् है तो वह दूधसे ही क्यो बनता है? पानीसे क्यो नही बनता? कार्य का (घटका) अपने उपादानकारण (मिट्टी) से सबध होता है और सबध दो सत्पदार्थोमें ही हो सकता है।[2] सत् और असत्में सबध नही हो सकता।

---

१ असत्कार्यवादको आरम्भवाद (नवीनोत्पत्तिका सिद्धान्त) भी कहते हैं क्योंकि कार्यकी सत्ताका आरम्भ कार्यकी उत्पत्तिके बाद होता है, पहले नहीं।

२ सतोर्हि सम्बन्धः सम्भवति न सदसतो असतोर्वा (वेदान्तसूत्र, शकरभाष्य, २।१।१८)।

यदि कार्य और कारणमें सबध न माना जाय तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तुका कारण हो सकेगी और सब कार्य सब जगह सम्भव हो जायँगे ।[1] अभिव्यक्ति होना ही कार्यकी उत्पत्ति है और अभिव्यक्तिका अर्थ है ज्ञान-का विषय हो जाना ।[2] असत् ज्ञानका विषय नही हो सकता और चू कि अभिव्यक्तिका अर्थ ज्ञानका विषय हो जाना है इसलिए असत्की अभि-व्यक्ति भी नही हो सकती । दूसरे शब्दोमें कार्य उत्पत्तिसे पहले असत् नही हो सकता । साख्यका यह सिद्धान्त सत्कार्यवाद कहलाता है ।

सत्कार्यवादकी भी तीव्र आलोचना हुई है । नैयायिक और मीमासक सत्कार्यवादकी आलोचना व्यावहारिक दृष्टिसे करते है । उनका कहना है कि उत्पत्तिसे पहले घडेको सत् मानना असंगत है । उत्पत्तिसे पहले जो घडा सत् रहता है उससे पानी नही लाया जा सकता, फिर उसकी सत्ता जाननेसे लाभ ही क्या । बौद्धोका कहना है कि कार्यकी अभिव्यक्तिके लिए कारणमें कुछ 'परिवर्तन' होना चाहिए । यदि उस 'परिवर्तन' को पहलेसे ही सत् मान लिया जाय तो कार्यको भी पहलेसे ही अभिव्यक्त होना चाहिए । यदि 'परिवर्तन'को सत् न माना जाय तो असत्की उत्पत्ति माननी पडेगी ।[3]

साख्य जगत्के मूल तत्त्वका अनुमान सत्कार्यवादके आधारपर करता है । भौतिक जगत् जो अब अपने प्रकट रूपमें है किसी दिन अवश्य अप्रकट रहा होगा । जगत्की उसी अप्रकट अवस्थाको साख्यमें 'प्रकृति' (प्रधान या अव्यक्त) कहा गया है । प्रकृति जगत्का आदि कारण है । जगत्की

---

१ असदकारणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाऽभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।। (सांख्यकारिका)

२ दे०, शंकर, अभिव्यक्तिः साक्षाद् विज्ञानालम्बनत्वप्राप्तिः (बृहदारण्यक भाष्य) ।

३ दे०, शातरक्षित, तत्त्वसंग्रह ।

अनेकता प्रकृतिसे ही निकलती है। इसे परिणामवाद कहते हैं क्योकि जगत् और जगत्की वस्तुओकी अनेकता प्रकृतिका परिणाम है।

भौतिक जगत्का विश्लेषण करनेपर उसकी तीन विशेषताएँ पता चलती है, सत्त्व, रजस् और तमस्। ये तीनो गुण कहलाते है। सतोगुण हलका और प्रकाशक होता है, रजोगुण उपष्टभ करनेवाला और क्रियात्मक, तमोगुण भारी और आलस्य पैदा करनेवाला। जैसे वत्ती तेल और दीपक अलग अलग होनेपर भी एक निश्चित प्रयोजनको पूरा करते है उसी प्रकार ये तीनोगुण अलग अलग होते हुए भी एक साथ रहकर अपना काम करते है।[१]

प्रकृति इन तीनो गुणोसे मिलकर निर्मित है। गुण प्रकृतिकी विशेषताएँ नही हैं वे उसके अग है जो जीवको प्रकृतिसे वाधनेके लिए रस्सी (गुण) वनाते है। उत्तरकालीन साख्यमें इन तीनो गुणोको अनन्त माना गया है और इनकी अनन्तताके कारण प्रकृतिको असीम कहा गया है।

साधारणतया जगत्की उत्पत्तिकी व्याख्या करनेके लिए पुद्गलको मानकर और उसे देश-कालके अन्तर्गत करके जगत्की व्याख्या कर दी जाती है। साख्यमें ऐसा नही है। साख्यकी प्रकृति देश और कालसे परे है। देश और काल प्रकृतिके ही दूरवर्ती परिणाम है। प्रकृति उनको जन्म देती है, वह स्वय उनमें नही है। विज्ञानभिक्षुके अनुसार देश-कालकी उत्पत्ति आकाशसे होती है।

सृष्टि होनेसे पहले प्रकृतिके तीनो गुण साम्यावस्थामें रहते है। गुणोके साम्यके भग होनेका नाम ही सृष्टि है। जगन् विषमता-मूलक है। गुणोकी साम्यावस्था प्रलयकी अवस्था है। प्रकृति प्रलयमें भी सक्रिय रहती है। उस समय प्रकृति सदृश परिणाम उत्पन्न करती रहती है। पानीसे वर्फ वनना सदृश परिणाम है। क्योकि पानी और वर्फके मुख्य गुणोमें कोई भेद नही है। जगत्का सर्ग प्रकृतिके विसदृश परिणामका फल है। प्रकृतिके विसदृश परिणामसे जो कुछ भी उत्पन्न होता है

१ दे०, साख्यकारिका, १३।

वह पहले अव्यक्तरूपसे प्रकृतिमें ही निहित रहता है। इस प्रकार ससारमें नवीनोत्पत्ति नही होती। विनाशका अर्थ केवल रूप परिवर्तन है, सर्वथा अभाव नही।

प्रकृतिका परिणाम पुरुषके सान्निध्य (समीप होने) से होता है। यह पुरुष क्या है? साख्य पुरुषकी सिद्धि भी प्रकृतिकी भाति अनुमान से करता है। प्रकृति तीन गुणोका सघात है इसलिए किसी ऐसी वस्तुको मानना पडता है जो सघातमय न हो अर्थात् पुरुष। सघातमय वस्तुएँ दूसरोके लिए होती हैं। कुर्सी बैठनेवालेके लिए होती है। यदि पुरुषको त्रिगुणमय मानें तो अनवस्था दोष आता है। पुरुष 'किसी और'के लिए हो जायगा और उस 'किसी और' को भी किसी 'दूसरेके लिए' मानना पडेगा और इसका कभी अत न होगा। भौतिक जगत् जड होनेसे अनुभवहीन है इसलिए उसके अनुभवके लिए कोई अधिष्ठाता चाहिए। फिर जगत्के सुख-दुःखका भोगनेवाला भी होना चाहिए। यदि घडियोका कोई उपयोग करनेवाला न होता तो घडिया नही वनाई जाती। मनुष्य ससारसे मुक्त होनेकी लालसा रखता है और जो मुक्त होनेका प्रयत्न करता है वह जिससे मुक्त होना चाहता है उससे (अर्थात् प्रकृतिसे) अलग होगा।[1] 'न प्रकृतिर्न विकृति' होनेके कारण पुरुष अपरिवर्तनशील, नित्य, सर्वगत और चेतन है। पुरुष कर्त्ता न होते हुए भी भोक्ता है।

पुरुषको सिद्ध करनेके ये सारे प्रमाण उपाधि-सयुक्त पुरुषको ही सिद्ध करते हैं। वातावरणके भेद द्वारा साख्य पुरुषोकी अनेकताको सिद्ध करता है। सुख-दु ख आदि पुरुषके स्वाभाविक धर्म नही हैं। प्रकृतिके ससर्गसे ही पुरुषमें इनकी प्रतीति होती है। यदि सुख-दु ख पुरुषके स्वाभाविक धर्म होते तो पुरुषकी मुक्ति नही हो सकती, क्योकि स्वाभाविक धर्म छोडे नही जा सकते। मुक्तिका अर्थ है कैवल्य या अकेलापन।

---

१ संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। (१७ वीं कारिका)

प्रकृतिका ससर्ग छूट जाना ही मोक्ष या कैवल्य है। प्रकृतिके ससर्गमें आने पर ही पुरुषको जीव कहा जाता है।

पुरुष और प्रकृति बिल्कुल विरुद्ध गुणवाले है। फिर उनमें सवध क्या है ? साख्यके अनुसार प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध अधे और लँगडे (अधपगु) दो आदमियो जैसा है। प्रकृति अचेतन है और पुरुष गतिहीन। दोनोको एक दूसरेकी अपेक्षा है। पुरुष और प्रकृतिके सबधको समझानेके लिए साख्यका अधपगुरूपक वहुत अस्पष्ट है। प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे सघातमय है और सघातमय वस्तुएँ दूसरे (उपयोग करनेवाले) के लिए होती है। अतएव प्रकृति पुरुषके लिए है। प्रकृतिका परिणाम पुरुषके भोग और मुक्तिके लिए होता है, यह समझमें नही आता। यदि पुरुष सुख दु खसे रहित है और असग है तो भोग और मुक्तिका क्या अर्थ हो सकता है ?

पुरुषके सान्निध्यसे प्रकृतिका परिणाम होता है। साख्य पुरुष-को प्रकृतिकी भाति नित्य और सर्वगत मानता है। तव तो प्रकृति और पुरुषका सान्निध्य भी नित्य होना चाहिए। ऐसी दशामें प्रकृतिके सदृश परिणामकी बात उलझ जाती है। पुरुषोकी अनेकता माननेसे सान्निध्य-का क्या अर्थ हो सकता है, यह भी एक कठिनाई है। विज्ञानभिक्षुके अनु-सार प्रधान पुरुषके सान्निध्यको मान लेना ही ठीक है।

प्रकृतिका पहला विकार महत् (वुद्धि) है। महत्से अहकार उत्पन्न होता है। अहकारके कारण ही मनुष्य मनुष्यमें भेद होता है। अहकारसे मनस्, पाच ज्ञानेन्द्रिया, पाच कर्मेन्द्रिया और पाच तन्मात्र ये सोलह पदार्थ उत्पन्न होते है। तन्मात्रोसे पाच भूत उत्पन्न होते हैं। शब्द तन्मात्रसे आकाश, शब्द और स्पर्श तन्मात्रसे वायु, इन दोनो और रूप तन्मात्रसे तेजस्, इन तीनो और रस तन्मात्रसे अप् और इन चारोसे पृथिवीका प्रादु-र्भाव होता है।[१] तन्मात्र भूतोके सूक्ष्मरूप है। मूल प्रकृति किसीका

---

१ प्रकृतेर्महान् ततोऽहकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य पञ्चभूतानि ॥ (२२)

विकार नही है, महत्, अहकार और पाच तन्मात्र प्रकृति और विकार दोनो है, मनस्, दस इन्द्रिया और पाच भूत विकार है। पुरुष न प्रकृति है और न विकार।[1]

सर्ग यही तक आकर नही रुक जाता, वह होता ही रहता है। पृथिवी वृक्ष आदिमें परिवर्तित हो जाती है। भूतो तकके सर्गको 'तत्त्वान्तर परिणाम' कहते है। यहापर ध्यान देने योग्य बात यह है कि तन्मात्रोको भूतोसे पहले माना गया है, भूतोको तन्मात्रोसे पहले नही। यह साख्यका तन्मात्रवाद है। तत्त्वोकी इतनी बडी सख्या माननेके कारण ही शायद इस विचारधाराका नाम साख्य पडा।

कहा जा सकता है कि जगत्का कारण महत्को क्यो न मानकर अव्यक्त प्रकृतिको क्यो माना गया है? किन्तु महत्से लेकर पृथिवी आदि सारे पदार्थ परिमित है और सब परिमित पदार्थ कार्य होते है। महत् भी परिमित पदार्थ होनेसे कार्य है इसलिए उसका भी कोई कारण होना चाहिए जो प्रकृति ही हो सकती है।

साख्य 'मानसिक' और 'भौतिक'के बीच भी खाई नही खोदता। हमारी मानसिक भावनाएँ और भौतिक जगत्के पदार्थ एक ही प्रकृतिका विकार है। अन्तर केवल इतना ही है कि मानसिक भावनाएँ अपनी सूक्ष्मता के कारण पुरुषके चेतन प्रतिबिम्बको ग्रहण कर सकती है और भौतिक पदार्थ पुरुषसे वहुत दूर होनेके कारण पुरुषका चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण नही कर सकते।

साख्य पुनर्जन्ममें विश्वास करता है। किंतु वह बुद्धि, अहकार, मनस्, दस इन्द्रिया, पाच तन्मात्र इन अट्ठारह तत्त्वोसे निर्मित लिंग शरीरका ही पुनर्जन्म मानता है। प्रत्येक पुरुषसे सबद्ध लिंग शरीर अपने पिछले कर्मोंके अनुसार उत्पन्न होकर विशेष योनिमें आता जाता रहता है। ज्ञान

---

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (३)

होनेपर नए कर्म, धर्म आदि बनना बन्द हो जाते है और पिछले कर्म भी शक्तिहीन हो जाते है।

साख्य ईश्वरको नही मानता। प्रकृति उद्देश्यात्मक होनेके कारण अपना विकास स्वय कर लेती है और उसे किसी बाहरी सहायताकी आवश्यकता नही पडती। साख्यके अनीश्वरवादका मूल है प्रकृतिका उद्देश्यात्मक होना।

पुरुष सब वस्तुओसे अलग रहता है इसलिए वह अनुभव नही कर सकता। बुद्धिका प्रादुर्भाव प्रकृतिसे होता है इसलिए बुद्धि जड है और अनुभव नही कर सकती। बुद्धि (महत्) प्रकृतिका पहला विकार है। अपने मूलरूपमें प्रकृति अव्यक्त है। बुद्धिके रूपमें ही वह पुरुषके सामने आती है और उससे सबद्ध होती है। बुद्धि पुरुषसे सबद्ध होकर अनुभव करनेके योग्य हो जाती है।[1] पुरुष और बुद्धिका यह सयोग स्फटिक पत्थरमें प्रतिबिम्बित गुलाबके फूलके समान है। पत्थरमें फूलका रग प्रतिभासित तो होता है किन्तु पत्थर स्वय लाल नही हो जाता। इसी प्रकार बुद्धिके अनुभव पुरुषके प्रतीत होते है। बुद्धि अनुभवकी सामग्री जुटाती है और पुरुष उसका अनुभव करनेके लिए चेतनता देता है। बुद्धि और पुरुषकी यही सबद्धावस्था ज्ञान है। बुद्धिके विकारोको वृत्ति और उसमें पुरुषके प्रतिबिम्बको ज्ञान कहते है। दसो इन्द्रिया, मनस्, अहकार और बुद्धि व्यक्तिको अनुभव करानेमें सहायक होती है और पुरुषके लौकिक रूपमें पुरुषमें विद्यमान रहती है। न्याय-वैशेषिक इन्द्रियोका प्रादुर्भाव भूतोसे मानता है किंतु साख्य अहकार से।

प्रत्यक्ष किसी वस्तुके चिह्न या आकारकी सहायतासे होता है। आकार बुद्धिमें प्रविष्ट नही होता किंतु बुद्धिका बाहरसे प्रेरणा मिलने-

---

१ तस्मात्तत्सयोगादचेतन चेतनादिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वे त्वपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीन ॥ (२०)

पर स्वय आकारका रूप ग्रहण कर लेना ही प्रत्यक्ष है ।[1] वस्तुकी छाप इन्द्रियोपर पडती है और इस प्रकार जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अस्पष्ट होता है । ऐसे ज्ञानको 'आलोचन मात्र' कहा गया है और यह निर्विकल्पक अवस्थाका सूचक है । सविकल्पक ज्ञान मनस्की सहायतासे प्राप्त होता है । प्रत्यक्षके अतिरिक्त साख्य अनुमान और शब्दको भी प्रमाण मानता है ।

ज्ञान बुद्धिवृत्ति द्वारा होता है—यह दृष्टिकोण योगाचारके ज्ञातावाद-सा लगता है । किंतु यह ज्ञातावाद नही है क्योकि साख्य पहलेसे ही यह मान लेता है कि ज्ञान अपनेसे अलग वस्तुका बोधक है । आकार ज्ञाता और ज्ञेयमें केवल सम्बन्ध स्थापित करानेका साधन है ।

भ्रम या तो अधूरे ज्ञानके कारण होता है या अविवेकके कारण । भ्रम या तो खण्डको सम्पूर्ण समझ लेना है या दो वस्तुओमें भेदको न देख सकनेके कारण उन्हें एक समझ लेना है, जैसे श्री मैथिलीशरण गुप्तके तोतेने उर्मिलाके नाकके मोतीको उसके होठोकी कान्तिसे अनारका बीज समझ लिया था ।[2] भ्रम पर्याप्त ज्ञानके न होने (अख्याति) से होता है, गलत ज्ञान (अन्यथाख्याति)से नही । भ्रमका कारण व्यक्तिमें ही ढूढना चाहिए ।

बुद्धि और पुरुष अपने आपमें चेतन-ज्ञाता नही हो सकते । जबतक उन्हें एक न माना जाय तबतक ज्ञान सम्भव नही है । उन्हें एक माननेका अर्थ है कि हम ज्ञानमें दो वस्तुओ (पुरुष और बुद्धि)की उपस्थितिको नही देख पाते । हमारा यही अविवेक सारे ज्ञानकी पहली शर्त है । पुरुष अपने लौकिकरूपमें इसी अविवेकसे निर्मित होता है । इस अविवेकसे मुक्त हो जाना ही जीवनका मुख्य उद्देश्य है ।

× × × ×

योगकी धारणा बहुत पुरानी है । योगतत्त्व उपनिषद्में चार प्रकारके योगका वर्णन मिलता है मत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग । योग

---

१ यत् सबद्ध सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत् प्रत्यक्षम् (१ । ८९)

२ दे०, साकेत, प्रथम सर्ग ।

शब्दकी व्युत्पत्ति कई प्रकारसे की जा सकती है। कर्म कारकमें योगका अर्थ मनस्की वह अवस्था है जब चित्तकी वृत्तियोमें एकाग्रता आ जाती है (युज्यते एतद् इति योग)। करण कारकमें योगका अर्थ वह साधन है जिससे चित्तकी वृत्तियोमें एकाग्रता लाई जाती है (युज्यते अनेन इति योग)। अधिकरण कारकमें योगका अर्थ वह स्थान है जहा चित्तवृत्तियोकी एकाग्रता उत्पन्न की जाती है (युज्यते तस्मिन् इति योग)। योग अथवा समाधिसे तात्पर्य उस रहस्यात्मक शक्तिसे भी है जो कर्त्ताके जीवनमें आमूल परिवर्तन ला सकती है। महाभारतमें योग शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोमें हुआ है किन्तु वह सब जिस धातु (शायद युजिर योगे)से निकले है उसका अर्थ है "जोडना" या "मिलाना"। कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग 'इन्द्रियोको वशमें करना' के अर्थमें हुआ है।[१] गीतामें यद्यपि योग शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोमें हुआ है तथापि उन सबका सम्बन्ध "जोडना" अर्थसे ही है। मनुने योग शब्दका अर्थ 'वशमें करना' किया है जो शायद 'युज् सयमने'[२] धातुसे सम्बन्धित है। पालि भाषामें भी योग शब्दका प्रयोग 'जोडना' 'वशमें करना' या 'प्रयत्न करना' के अर्थमें किया गया है जैसा 'पुब्बयोगे' या 'चित्तस्य निग्गान्हे योगो करणीयो' आदिसे स्पष्ट है।

पतजलिने पहले पहल योग शब्दको समाधिके अर्थमें प्रयुक्त किया है। व्यासने योग शब्दका अर्थ 'योग समाधि' किया है। वाचस्पतिका मत है कि योग शब्द 'युज् समाधौ'से निकला है, 'युजिर् योगे'से नही।[३]

मनुष्यका मन चचल होता है। यदि अत्यधिक एकाग्रतासे मनको वशमें कर लिया जाय तो वह पूर्णरूपसे स्थिर अवस्थामें हो जाता है और

---

१ दे०, ६।११।

२ दे०, ७।४४।

३ युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्न· समाध्यर्थो, न तु युजिर योगे इत्यस्मात सयोगार्थ इत्यर्थ —(तत्त्व वैशारदी)।

उस समय ऐसे सत्यका साक्षात्कार होता है जो प्रमाणोद्वारा प्राप्त किए गए सत्यके बिल्कुल विपरीत होता है। इस प्रकारकी मानसिक अवस्था और उससे प्राप्त ज्ञानका मूल्य निर्धारित करना आवश्यक था। पतजलिने २०० सवत् पूर्वके आसपास योग सम्बन्धी इन्ही बिखरी हुई धारणाओका अपने 'योगसूत्र'में सपादन किया और उन्हें साख्य विचारधाराके अनुकूल बनाकर एक क्रम दे दिया। किन्तु योगकी धारणामें पतजलिके बाद भी व्यास, वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु आदिके द्वारा अनेक सुधार होते रहे।

योग साख्यका व्यावहारिक पूरक है। योगका प्रमुख उद्देश्य कैवल्य प्राप्तिके साधन बताना है जिससे हम अविवेकसे मुक्त हो सकें। योगके अनुसार मनस् और जगत्की वस्तुएँ असीम गुणोके मेलसे बनी है। मनस् में सत्त्व और रजस्की प्रधानता होती है और जगत्की वस्तुओमें तमस् और रजस् की। अनुभवमें हम मानसिक अवस्थाओका अविच्छिन्न प्रवाह ही देखते है। किंतु यदि अनुभवका विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि उसमें एकता तथा उद्देश्य निहित रहता है। हमारे मनमें बहुत सी चीजें सस्कार अवस्थामें रहती है किन्तु हमें उनका प्रत्यक्ष कभी नही होता। इससे स्पष्ट है कि हमारी मानसिक अवस्थाएँ एक ऐसी दशामें भी रहती है जब उनमें चेतनताका आरोप नही किया जा सकता। चेतनता उनका जन्मजात गुण नही है। किन्तु फिर भी वे विशेष परिस्थितियोमें–पुरुषके सम्पर्कमें आकर–चेतनताका विषय बन जाती है।

चेतनताका वास्तविक सिद्धान्त–पुरुष–हमारे मनोवैज्ञानिक अनुभवो में विषयता ग्रहण नही करता। हमारी अनुभवजन्य प्रत्येक मानसिक अवस्था जीव या अहम्की किसी न किसी धारणासे अवश्य सम्बन्धित रहती है। अपनी किताबको मेजपर देखकर जब मै सोचता हू 'यह मेरी किताब है', तो इस अनुभवमें तीन बातें है विषयका आभास, किताबका वास्तविक वोध, किताबका 'अहम्'की धारणासे सम्पर्क। किन्तु यहा 'अहम्'

का यह अनुभव देखनेकी क्रियाका एक आवश्यक पूरक ही है। इसे वास्त-विक जीवका अनुभव नही कहा जा सकता। एक बात और हरेक अनुभवमें 'अहम्'की धारणाका सम्पर्क अलग अलग तरहसे होता है। अपने शरीरके किसी भागका अनुभव किताबके अनुभवसे अधिक घनिष्ठ है। स्पष्ट है कि हमें 'अहम्'के इस अनुभवसे चेतनतामें किसी ध्रुव जीव-का अनुभव नही होता।

यदि हमारे अनुभवोके पीछे कोई ध्रुव जीव नही है तो उनमें एकता कहासे आती है? यह एकता मानसिक अवस्थाओमें नही हो सकती क्योकि वे बदलती रहती है। यह एकता 'अहम्'की धारणासे भी नही आ सकती, क्योकि 'अहम्'का सम्पर्क हरेक अनुभवमें बदलता रहता है। अनुभवोमें जो एकता होती है उसे स्वीकृत करते हुए किसी ध्रुव जीवकी सत्ताको मानना पडता है जिसके सम्पर्कसे अनुभवोमें एकता आती है। इस जीव या पुरुषकी सत्ता हमारी मनोवैज्ञानीय क्रियाओमें निहित रहती है। उसका प्रत्यक्ष नही होता।

मनस् विभिन्न गुणोके मेलसे बना है। जिस प्रकार आग, बत्ती और तेल यद्यपि एक दूसरेसे बिल्कुल अलग होते है तथापि उनके मेलसे लौ बनती है उसी प्रकार मनस् भी विभिन्न गुणोसे निर्मित होता है। मनस्-का यह मिश्रण प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है और परिवर्तनके प्रत्येक क्षणमें मनस्पर सस्कार बनते रहते है। कालान्तरमें पुराने सस्कार क्षीण हो जाते है और उनका स्थान नए सस्कार ले लेते है। किन्तु पुराने सस्कार बिल्कुल नष्ट नही होते। वह मस्तिष्कके अर्धचेतन भागमें चले जाते है और बादमें पूरी या अधूरी तरहसे उभर सकते हैं। कुछ मानसिक अवस्थाएँ जल्दी और कुछ धीरे धीरे क्षीण होती रहती है। जो मानसिक अवस्थाएँ बहुत जल्दी क्षीण हो जाती है उन्हें यदि बादमें उभारा भी जाय तो वे खण्डितरूपमें ही उभर सकती है। योगका विश्वास है कि इन मानसिक अवस्थाओमें कुछ ऐसी भी होती है जो मनस्का 'प्रकार' बन

जाती है और अनेक जन्मो तक बनी रहती है। वह कभी चेतनताका विषय नही बन पाती और अदृश्य रूपसे हमारे विचारो तथा जीवनको प्रभावित करती रहती है। मनस्की इन अदृश्य प्रवृत्तियोको वासना कहा जाता है। मनस्में इन वासनाओका जाल बिछा रहता है। ये वासनाएँ दो तरहसे बनती है एक तो पूर्व जन्मके अनुभवोसे और दूसरे इसी जन्मके बार बारके अनुभवोसे।

साधारणत मनस्की पाच वृत्तिया है प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाणमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द है। विपर्यय भ्रम है जो इन्द्रिय दोषसे उत्पन्न होता है। विकल्प भाषाकी उन विवशताओको कहते है जिनके बिना भाषा और विचार सम्भव ही नही हो सकते। निद्रामें मनुष्यको अपने ऊपर कोई अधिकार नही रहता और तब अर्धचेतन भागमें पडे हुए सस्कारो द्वारा स्वप्न उत्पन्न होते है। स्मृति वह वृत्ति है जिससे अर्धचेतन भागमें पडे हुए पुराने सस्कारोको फिरसे उभारा जाता है।

जाग्रतावस्थाकी हमारी सारी क्रियाएँ इन सस्कारोसे सचालित होती रहती है। यदि ऐसा है तो हम नैतिक तथा सदाचारी बन सकनेमें कहा तक स्वतन्त्र है ? योगका उत्तर है कि हम दृढ सकल्प और मनकी एकाग्रतासे जगत्के अनुभवोसे मुक्त हो सकते है। हमारे मनस्में एक ऐसी शक्ति निहित है जिसके माध्यमसे मनस्को चेष्टानुसार किसी ओर भी प्रवृत्त किया जा सकता है। मनस् पुराने सस्कारोके विरुद्ध प्रतिक्रिया भी कर सकता है। पुराने सस्कारोकी शक्तिको पराजित कर सकना बडा कठिन काम है।

यदि पुराने सस्कार नष्ट नही होते तो उनको पराजित करनेका क्या अर्थ है ? योगका उत्तर है कि कोई भी सस्कार नष्ट किया जा सकता है यदि हम मनस्में उसके विपरीत अवस्था उत्पन्न कर दें। इसको प्रतिपक्ष भावनाका सिद्धान्त कहते है। किसी बुरे विचारको उखाड फेंकनेके

लिए हमें उसके स्थानपर किसी अच्छे विचारको प्रतिष्ठित कर उसकी जड़ें मनस्के वहुत अन्दर तक पहुचाकर लगातार प्रयत्नोसे मज़वूत वनानी पड़ेंगी। हो सकता है कि कोई वुरा विचार मनस्के एक स्तरसे मिट जाय किन्तु वह गहनतम स्तरोमें फिर भी रह सकता है और अवसर पाकर फिर उभर सकता है। योगमें वाह्य आचरणको सुधार सकनेके साथ साथ मनके विचारोपर भी अधिकार कर सकनेकी सभावना प्रकट की गई है।

किन्तु योगका लक्ष्य मनुष्यको नैतिक भर वना देना ही नही है। योगी हर वन्धनसे छुटकारा पानेका आयास करता है। वह अपने मनस्के वन्धनोसे भी मुक्त होनेकी कामना रखता है। यम और नियमद्वारा वह अपने आचरणपर अधिकार रखता है। इस प्रकार जव उसका मन पवित्र हो जाता है तव वह अपने चित्तकी वृत्तियोको स्थिर कर उनको मिटा सकनेके लिए प्रयत्नशील होता है।[१]

जव तक मन चचल रहे मनुष्य अपनेपर अधिकार नही कर सकता। मनको अचचल करनेके लिए योगी उसको जगत्के अनेक पदार्थोपरसे हटाकर केवल एक पदार्थपर ही एकाग्र करता है। इसे ध्यान कहते हैं। ध्यानसे मनकी चचलता दूर हो जाती है, मन और विषयका भेद मिट जाता है। मन और विषयका भेद मिट जानेपर मन विषयाकार हो जाता है। यह समाधिकी अवस्था है। इस अवस्थामें योगीको सत्यका वास्तविक ज्ञान होता है जिसे प्रज्ञा[२] कहते है। समाधिकी प्रत्येक अवस्थापर योगी सत्य ज्ञानसे अनुभूत होता रहता है जिससे उसके पुराने सासारिक सस्कार नष्ट होते रहते हैं। एक समय आता है जव वह जीवका असली स्वरूप देख सकता है।[३] यह योगकी असम्प्रज्ञात अवस्था है जिसमें चित्त

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ।

२ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

३ तदा द्रष्टु. स्वरूपे अवस्थानम् ।

४ योगमें चित्तका वही अर्थ है जो साख्यमें महत्का ।

से वस्तुकी धारणाका भी निरोध हो जाता है। इस अवस्थामें चित्त पुरुष-को प्रकृतिसे बाध सकनेसे असमर्थ होकर प्रकृतिमें लय हो जाता है और केवल पुरुष ही विशुद्ध ज्ञानके रूपमें रह जाता है।

पुरुषके विशुद्ध ज्ञानका वह अर्थ नही है जो 'ज्ञान' शब्दसे साधारणत समझा जाता है। समाधिमें जो ज्ञान होता है वह धारणारहित ज्ञान है और एक अलग ही श्रेणीका है। हम प्रज्ञाका अनुभव अपनी चेतनताकी अवस्थाओमें स्मृतिद्वारा नही कर सकते, क्योकि स्मृति स्वय चेतनताकी एक अवस्था है।

योग ईश्वरमें विश्वास करता है इसलिए योगको सेश्वर साख्य कहा जा सकता है। किन्तु ईश्वरकी प्राप्ति योगका लक्ष्य नही है। ईश्वरकी धारणा सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचनेका एक साधन ही है।[१] योगका ईश्वर पुरुष विशेष ही है, जगत्का रचयिता या नियन्ता नही है।

---

१ दे०, योग सूत्र १, २३।

पूर्व मीमांसा

मीमाना शब्द मन्से निकला है। मन्का अर्थ है विचार करना। पूर्व मीमानाका दूसरा नाम कर्म मीमामा भी है क्योंकि इसमें वैदिक यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओंको व्यवहारमें लानेके नियमोंका निरूपण किया गया है। मीमामा अपने विचारोंकी पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थोंसे करती है। चूंकि ब्राह्मण उपनिपदोंसे पहले आते है इसलिए इसका नाम पूर्वमीमासा पडा है। मीमासाका मबसे प्राचीन ग्रन्थ जैमिनिके सूत्र है। सूत्रोंका समय लगभग १५० सवत् पूर्व बताया जाता है। इन सूत्रोंका उद्देश्य यज्ञ-सवधी व्याख्याओंके मतभेदोंको दूर करना था। इन सूत्रोंपर शबर स्वामीने भाष्य लिखा जिसकी व्याख्या प्रभाकर (७१५ सवत्) ने 'बृहती' और कुमारिल (७६० सवत्) ने 'श्लोकवार्त्तिक' नामक टीकाओंमें दो प्रकारसे की। इस प्रकार ये दोनो मीमासाके दो सम्प्रदाय बना देते हैं।

जैमिनिने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दको ही प्रमाण माना था। प्रभाकर उपमान और अर्थापत्ति और कुमारिल इन पाचोंके अतिरिक्त अनुपलब्धि (अभाव) को भी प्रमाण मानता है। प्रमाण अनुभूतिको कहते है जो स्मृतिज्ञानसे अलग है। पूर्वज्ञानकी अपेक्षा रखनेके कारण स्मृति प्रमाण नहीं है।'[1]

'देवदत्त मोटा है' और 'देवदत्त दिनमें नही खाता' यह दोनों कथन देखनेमें तो विरोधी लगते है किन्तु इनसे हम इस नतीजेपर पहुंच सकते है कि 'देवदत्त रातमें खाता होगा।' इसीको अर्थापत्ति कहते हैं। नैयायिक अर्थापत्तिको अनुमान प्रमाणके अन्तर्गत मानते हैं। किन्तु अर्थापत्तिसे जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका आधार व्याप्ति नहीं होती, इसलिए अर्थापत्तिको अनुमानके अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

---

१ दे०, कीथ, कर्ममीमासा, पृ० २०।

कुमारिल अनुपलब्धिको भी प्रमाण मानता है। अभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे नही होता। अनुमान और अर्थापत्तिसे भी अभावको नही जाना जा सकता। अभावका ज्ञान प्राप्त करनेका एक अलग प्रमाण मानना चाहिए। प्रभाकर अभावमें विश्वास न रखनेके कारण अनुपलब्धि प्रमाण को नही मानता।

हमने देखा है कि अन्य विचारधाराओने शब्दको प्रमाण माना है। शब्द प्रमाणका महत्त्व अब तक केवल इतना ही था कि वेद ईश्वरकृत होनेसे मान्य है। मीमासक वेदोको ईश्वरकृत नही मानते, इसलिए यहा शब्द प्रमाणका महत्त्व कुछ और ही हो जाता है।

किसी वर्ण (शब्द) और उसके अर्थका सम्बन्ध स्वाभाविक होनेसे आवश्यक और नित्य होता है। वर्ण निरवयव और सर्वव्यापक होनेके कारण नित्य है। वर्ण की अभिव्यक्तिका साधन ध्वनि है किन्तु ध्वनि ही वर्ण नही है। वर्ण 'व्यक्ति'को न बताकर 'जाति'को वताते है और चूकि जातिया नित्य है इसलिए वर्ण और अर्थका सम्बन्ध भी नित्य है। वर्ण और अर्थ सहकारी है और कालातीत होते है। अर्थ वर्णोका धर्म है।[1]

किन्तु वर्णों और उनके अर्थकी नित्यतासे वेदोकी नित्यता सिद्ध नही हो पाती। यदि वेद नित्य है तो उनमें कोईवि शेषता होगी, और वह विशेषता है वेदोके वर्णोका एक विशेष प्रकारका क्रम जिसे आनुपूर्वी कहते है। इस प्रकार मीमासक ईश्वरकी दुहाई न देकर भाषाके एक विशेष दृष्टिकोणसे वेदोकी नित्यता सिद्ध करते है। पतजलिके मतमें वेदोका अर्थ तो नित्य है किन्तु वर्णोका क्रम नही।

वर्ण और अर्थको नित्य माननेसे वेदोका प्रामाण्य कैसे स्थापित होता है? इसके लिए मीमासक ज्ञानके स्वत प्रामाण्यका आधार लेते है। प्रभाकर और कुमारिल दोनो ज्ञानको स्वत प्रामाण्य मानते है। ज्ञानका

---

१ वैयाकरणके स्फोटवादके अनुसार अर्थ वर्णोका धर्म न होकर स्फोटका धर्म है।

आकार नही होता और मीमासकोके अनुसार जिसका आकार नही है उसका प्रत्यक्ष नही हो सकता। अतएव ज्ञानका भी प्रत्यक्ष नही हो सकता। प्रत्यक्ष अर्थ-विषयक होता है बुद्धि-विषयक नही।[१] ज्ञान (सवित्)को ज्ञानके रूपमें ही जाना जा सकता है, ज्ञेयरूपमें नही।[२] ज्ञानको जाना तो जा सकता है किन्तु उसका प्रत्यक्ष नही किया जा सकता। सौत्रान्तिक विज्ञानोका प्रत्यक्ष और वस्तुओका अनुमान मानते थे किन्तु यहा वस्तुओ-का प्रत्यक्ष और ज्ञानका अनुमान माना गया है।

नैयायिकोने ज्ञानकी उत्पत्ति और उसकी यथार्थताकी परखकी कसौटीको अलग अलग माना था। उनका यह मत परत प्रामाण्यवाद कहलाता है। मीमासक परत प्रामाण्यवादको नही मानते। उनके मतमें ज्ञानकी यथार्थताकी परखके लिए किसी प्रकारके व्यवहारकी अपेक्षा नही है। नैयायिकोंके अनुसार पानीके ज्ञानकी परीक्षा तभी ठीक होगी जव प्यास वुझ जाय। किन्तु प्यासका वुझ जाना भी एक प्रकारका ज्ञान है। फिर इसकी परीक्षा कैसे होगी कि प्यासका वुझना ठीक है या नही। इससे स्पष्ट है कि परत प्रामाण्यवाद अनवस्था दोषकी ओर ले जाता है। ज्ञानकी उत्पत्ति और उसकी यथार्थता वास्तवमें एक ही वात है। सहीको गलत सिद्ध करनेके लिए व्यवहारकी आवश्यकता पड सकती है किन्तु सहीको सही वतानेके लिए व्यवहारकी क्या आवश्यकता। ज्ञान अपना प्रमाण स्वय (स्वत) होता है।

यदि ज्ञान स्वत प्रामाण्य है तो भ्रम क्यो होता है ? प्रभाकरके अनुसार भ्रम स्मृतिके कारण होता है और स्मृति प्रमाण नही है। सीप-का रग चादीके समान होता है इसलिए सीपके प्रत्यक्षके समय चादीका स्मरण हो आता है और हम प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति ज्ञानके भेदको भूल कर ज्ञानकी इकाईको नही देख पाते। यही भ्रम है और प्रभाकर इसे

१ दे०, झा, पूर्व मीमांसा, पृ० २६, अर्थविषये हि प्रत्यक्षवुद्धिः न बुद्धि-विषये। २ सवित्तयैव हि सवित् सवेद्या न सवेद्यतया (झा, पूर्वमीमासा)।

अख्याति कहता है। भ्रममें प्रत्यक्ष और स्मृतिके दो ज्ञान मिले रहते है। इनमेंसे प्रत्यक्ष ज्ञान तो स्वत प्रामाण्य होता है किन्तु स्मृति ज्ञान नही।

कुमारिलकी ,भ्रमकी व्याख्या विपरीतख्याति कहलाती है। विपरीत-ख्यातिके अनुसार भ्रम सीप और चादीके भेदको न देख सकनेके कारण नही होता प्रत्युत सीपको चादी समझ लेनेके कारण होता है। भ्रममें हम अपने दोषवश एक वस्तुके गुणोको दूसरी वस्तुमें आरोपित कर देते है। भ्रममें इकाई रहती है, दो अलग अलग ज्ञान नही।

मीमासाका प्रधान उद्देश्य धर्मकी स्थापना करना है। मीमासक जीवमें विश्वास रखते है। यदि जीव और उसकी नित्यताको न माना जाय तो वैदिकवाक्य निरर्थक हो जायँ। प्रभाकरके मतसे जीवका बोध हमें ज्ञानमें होता है। ज्ञान स्वय प्रकाश होनेके कारण जीव और ज्ञेय वस्तुको एक साथ प्रकाशमें लाता है। इसे त्रिपुटी ज्ञान कहते है। बिना ज्ञानके जीव और ज्ञेय वस्तुका बोध नही हो सकता। गहरी नीदमें ज्ञानके न होनेसे ज्ञेय वस्तु और जीवका बोध नही हो पाता।

कुमारिलके मतसे जीवका प्रत्यक्ष मनस् द्वारा अहम्-प्रत्ययमें होता है। कुमारिल, प्रभाकरके विरुद्ध, जीवको एक साथ ज्ञाता और ज्ञेय दोनो ही मानता है। प्रभाकर जीवको जड मानता है जो सिर्फ ज्ञानके प्रकाशसे ही जाना जा सकता है। कुमारिलके अनुसार ज्ञान जीवका ही पर्याय है। जीव ज्ञान-शक्ति है जो वस्तुओका प्रत्यक्ष मनस्‌की सहायतासे करती है। जीवके मुक्त होनेपर उसमें मनस् आदिके न रहनेसे वह केवल ज्ञान-शक्तिके रूपमें ही रहता है और उसमें आनन्द, ज्ञान, सुख, दु ख आदि जो इन्द्रियोकी सहायतासे प्राप्त होते है नही रहते। जीवकी मुक्तावस्थाका यह स्वरूप प्रभाकरको भी मान्य है।

धर्मका अर्थ है वेद-वाक्योके आदेशका पालन करना। कुमारिल धर्म और अधर्मको क्रियाओके नाम मानता है। यज्ञ करना धर्म है, हिंसा अधर्म। प्रभाकर धर्म और अधर्मको क्रियाओका फल मानता है। धर्म

सचयके लिए कर्म करने पडते है। कर्म तीन प्रकारके है काम्य—जो मनोकामना पूरी करनेके लिए किए जाते है, निषिद्ध—जिनको करनेके लिए वेद मना करते है, नित्य—जिनका करना आवश्यक है। नित्य कर्मोको नैमित्तिक कर्म भी कहा जाता है। काम्य और निषिद्ध कर्मोको छोडकर नित्यकर्म करते रहनेसे मुक्ति मिलती है। नित्यकर्म मनुष्यको वन्धनोमें नही फँसाते। स्पष्ट है कि मीमासा सन्यासका समर्थन नही करती।

कर्म धर्मसचयके लिए किए जाते है। धर्मसचयके लिए ईश्वरकी आवश्यकता नही है। मीमासक ईश्वरकी सत्ताको नही मानते, सृष्टि और प्रलयको भी नही मानते (न कदाचित् अनीदृशम् जगत्)। कर्मोके फलकी प्राप्ति 'अपूर्व' द्वारा होती है, ईश्वर द्वारा नही। प्रभाकर 'अपूर्व' धर्म और अधर्मको कहता है और मानता है कि 'अपूर्व'का ज्ञान वेदोसे ही हो सकता है। कुमारिल 'अपूर्व'को नित्यकर्मोके अनुष्ठानसे उत्पन्न एक शक्ति मानता है जो अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होती है। किए हुए कर्मोका फल मिलता है किन्तु यज्ञादि कर्मोका फल तुरन्त नही मिलता, इसलिए मानना चाहिए कि यज्ञादि कर्म कर्त्तामें एक शक्ति उत्पन्न कर देने है जो उन्हें वादमें फल देती है।

वेदान्त

(क) पृष्ठभूमि

वेदान्त शब्दका अर्थ है वेदोका अन्त । वेदोके अन्तिम भाग है उपनिषद्, वेदान्त उन्हीकी शिक्षाओकी व्याख्या करता है । उपनिषद् ब्राह्मणोके बाद आते है इसलिए वेदान्तको उत्तरमीमासा भी कहते है ।

आस्तिक चिन्ता-पद्धतिको पहले पहल सजाकर रखनेका श्रेय बादरायणकृत वेदान्त सूत्रोको है । सूत्रोका रचनाकाल १५० सवत् पूर्वके लगभग समझा जाता है । उपनिषदोमें परस्पर विरोधी विचार पाए जाते है जिससे स्पष्ट है कि सभी उपनिषदोमें एक ही शिक्षा नही है । वेदान्त सूत्रोका मुख्य उद्देश्य यही दिखलाना है कि सारे उपनिषदोमें एक ही शिक्षा है ।[1] बादरायणने उपनिपदोको किस प्रकार समझा था यह विवादास्पद है और इसका कारण है सूत्रोकी क्लिष्टता जिससे उनकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जा सकती है । शकर, रामानुज और अन्य विचारकोने सूत्रोकी व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोणसे की है जिससे वेदान्तके अनेक सम्प्रदाय बन जाते हैं । किन्तु शकरकी व्याख्या इतनी गम्भीर

---

१ गौड़पादने भी ८३५ संवत्के लगभग माण्डूक्य उपनिषद्पर अपनी माण्डूक्य कारिका लिखकर यह दिखानेका प्रयत्न किया कि सब उपनिषदोकी शिक्षा एक ही है । ये गौड़पाद साख्यकारिकापर टीका लिखनेवाले गौड़पादसे भिन्न हैं । गौड़पादने जीवका स्वरूप अदृष्ट, अग्राह्य, प्रपंचोपशम (जिसका विवर्त न हो) और अद्वैत माना हैं । जगत्की विभिन्नताका कारण मायाको माना है । गौडपादने उत्पत्तिको नही माना है (कारिका ४।२२) । गौड़पाद बौद्ध विचारधारासे प्रभावित है । ये शंकरके गुरु गोविन्दके गुरु थे ।

तथा ओजपूर्ण है कि आज वेदान्तसे तात्पर्य शकरका विवचन ही समझा जाता है। वेदान्त सूत्रोको समझनेके लिए शकरभाष्यका अनुसरण करनेसे पहले सूत्रोकी मुख्य प्रवृत्तिको जान लेना उपयुक्त होगा।

आस्तिक विचारधाराका मुख्य उद्देश्य बौद्धोकी अनित्य दृष्टि (क्षणिक-वाद) का खण्डन करके नित्य दृष्टिको स्थापित करना रहा था, क्योकि नित्य दृष्टिकी रक्षापर ही वेदोका प्रामाण्य और ईश्वरका अस्तित्व निर्भर है। कणादने कार्यको उत्पत्तिसे पहले असत् मानकर कार्य-कारण-सम्बन्ध-से नित्य दृष्टि स्थापित नही की वरन् सत्ताको छह भागोमें बाटकर 'सामान्य'से की। सामान्य नित्य और व्यापक है। द्रव्य, गुण और कर्ममें 'यह है' (इद सत्)की प्रतीति 'सत्ता'को सिद्ध करती है।[१]

साख्यकी प्रकृतिका परिणाम तो होता था किन्तु वह चेतन न थी। सर्वास्तित्ववादी परमाणुओका परिणाम तो मानते थे किंतु परमाणु चेतन न थे। बौद्धोके परमाणु क्षणिक थे किंतु कणादके नित्य। कणादने परमाणओके सयोग और विभागके लिए 'अदृष्ट'को माना था। किंतु अदृष्ट अचेतन होनेसे परमाणुओमें गति उत्पन्न नही कर सकता था।[२] वादरायणने ब्रह्मको सत् और चित् दोनो मानकर कपिल और कणादके विरुद्ध सत्ताको चेतन माना। कपिलने प्रकृतिमें स्वभावत प्रवृत्ति मानी थी। वादरायणने कहा कि प्रवृत्ति अचेतनका धर्म नही है और चूकि प्रकृति अचेतन है इसलिए उसमें प्रवृत्ति नही मानी जा सकती।[३] और विना प्रवृत्ति माने परिणाम नही हो सकता इसलिए सत्ताको चेतन होना आवश्यक है।

वादरायणने यह भी प्रमाणित करनेकी चेष्टा की कि बिना किसी नित्य वस्तुको माने परिणामका होना असम्भव है। कार्यकी उत्पत्तिके

---

१ सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता (सूत्र १।२।७)।

२ उभयथापि न कर्म अतस्तदभावः (वेदान्तसूत्र, २।२।१२)

३ दे०, वेदान्त सूत्र २।२।२।

क्षणमें कारणका निरोध हो जाता है और कार्यके प्रति उसका हेतुभाव नही रहता। यदि यह माना जाय कि कारण कार्यकी उत्पत्तिके क्षण तक रहता है तो इससे कारण और कार्यका पूर्वापर भाव नही रहता और क्षणिकवाद-का भी खण्डन हो जाता है।[१]

परिणाम और नित्यदृष्टि दोनो आपसमें विरोधी है क्योकि नित्यता-का अर्थ ही कूटस्थता या परिणामका न होना है। बौद्धोका विज्ञान प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेसे परिवर्तनशील था और बादरायणका ब्रह्म था कूटस्थ। किंतु बादरायणने उसे 'जन्माद्यस्य यत' और 'आत्मकृते परिणामात्'[२] बताकर परिणामशील मान लिया था। ब्रह्मको कूटस्थ मानना और साथ ही साथ उसका परिणाम भी मानना असगत है, इसलिए ब्रह्मके परिणाम-की नए ढगसे व्याख्या करनेकी आवश्यकता पडी। शकरने बादरायणकी इस गलतीको समझकर परिणामवादको विवर्तवादमें परिणत किया, क्योकि परिणामवाद माननेसे नित्यताकी सिद्धि करना असम्भव है।

(ख) अद्वैत

अद्वैत वेदान्तके प्रतिभाशाली प्रतिपादक शकरका समय ८४५ से ८७७ सवत् बताया जाता है। शकरने वेदान्तसूत्र और दश उपनिषदोपर भाष्य लिखे हैं। शकरके भाष्यपर वाचस्पति मिश्रने 'भामती' और पद्म-पादने 'पचपादिका' लिखी है। 'पचपादिका'पर प्रकाशात्मन्ने 'विवरण' लिखा है। शकरका आविर्भाव भारतीय इतिहासकी एक महान् घटना है। शकरके समय तक भारतीय सस्कृति तथा साहित्यकी सर्वांगीण उन्नति हो चुकी थी। भारतीय साहित्यको कालिदासका माधुर्य, भवभूति का ओज, भारविका अर्थ-गौरव तथा अश्वघोषका सगीत मिल चुका था। शकरने अपने गाम्भीर्यका योग देकर भारतीय साहित्यको विकासकी

१ उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात्। असति प्रतिज्ञोपरोधो यौग-पद्यमन्यथा (सूत्र २।२।२०।२१)।

२ दे०, सूत्र १।१।२ और १।४।२६।

पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। सत्यमें मानवी इच्छाओ तथा आशाओका कोई स्थान नही है। शकरका तटस्थ दृष्टिकोण भारतीय मस्तिष्कके साहस और निर्भीकताका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

हमे अपने सब अनुभवोमें 'जीव'का आभास मिलता है। हम जीवकी सत्तामें सन्देह नही कर सकते[1] क्योकि सन्देह करना भी सन्देह करनेवाले-का स्वभाव ही है।[2] जीव ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। इससे हम इस नतीजेपर पहुँचते है कि जीव दो तत्त्वोसे मिलकर बना है अन्त करण और साक्षी। जीव यदि दो तत्त्वोका मिश्रण न होता तो प्रत्येक अनुभवमें उसका आभास मिलता। किंतु नीदमें जीवका आभास नही मिलता। अतएव स्वीकार करना पडता है कि जीव दो तत्त्वोसे मिलकर बना है। जाग्रता-वस्थामें हमें जो कुछ भी अनुभव होता है नीदमें उसका निरोध हो जाता है। किन्तु नीदमें फिर भी कोई ऐसी वस्तु बनी रहती है जिससे हमें 'नीदमें जाग्रतावस्थाके अनुभवोका निरोध हो गया था' यह ज्ञान मिलता है। अद्वैतमें मनस्को इन्द्रिय नही माना गया है। मनस्, बुद्धि, अहकार और चित्त एक ही अन्त करणके कार्य और उसकी विभिन्न अवस्थाएँ है। अन्त-करण ही सशय करनेपर मनस्, निश्चय करनेपर बुद्धि, गर्व करनेपर अहकार और स्मरण करनेपर चित्त कहलाता है। अन्त करण भौतिक और तेजस् प्रधान है। नीदके अतिरिक्त वह और सब दशाओमें क्रियाशील रहता है।

साक्षी साख्यके पुरुषकी भाति चेतन तत्त्व है। साक्षी और अन्त-करणकी मिश्रित अवस्था (जीव) ही जानने, सकल्प और अनुभव करनेकी शक्ति है। यह मिश्रित अवस्था मुक्ति होने तक बनी रहती है। मुक्ति होनेके बाद अन्त करण अपने कारण मायामें लय हो जाता है और साक्षी अपना साक्षीपन खोकर ब्रह्म हो जाता है। जीव अनुव्यवसायमें ज्ञेय वस्तु

---

१ सर्वो ह्यात्मास्तित्व प्रत्येति न नाहम् अस्मीति (शंकर भाष्य, १।१।१)

२ य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम् (शकर भाष्य; २।३।७)

बन सकता है क्योकि उसमें ज्ञेय पदार्थ निहित रहता है। किन्तु साक्षी ज्ञेय नही बन सकता क्योकि वह ज्ञेयतामें चेतनताका शुद्ध तत्व है। साक्षी स्वप्रकाश है। उसको जाननेके लिए किसी ज्ञानकी अपेक्षा नही होती। उसकी उपस्थिति ही उसका ज्ञान है।[1] उसकी सिद्धि नही हो सकती क्योकि अन्य वस्तुओकी सिद्धि उसीकी अपेक्षासे होती है।[2]

स्वप्नमें जो ज्ञान होता है उसमें इन्द्रियोका सहयोग नही होता।[3] स्वप्नमें स्थूल शरीरका सम्पर्क भी नही होता। फिर भी लगता है कि इन्द्रिया सहयोग दे रही है और स्थूल शरीर उपस्थित है। किन्तु स्मृतिमें ऐसा नही होता। स्वप्नमें अन्त करण इन्द्रियोकी सहायताके बिना ही अपना काम करता रहता है। स्वप्नके अनुभवमें सत्यकी सारी विशेषताएँ—देश, काल, कारण, अबाध—तो रहती है, किन्तु इनके होते हुए भी स्वप्नका अनुभव अपने आप अभिव्यक्त नही हो पाता।[4] उसे अपनी अभिव्यक्तिके लिए जाग्रतावस्थाकी अपेक्षा होती है। जाग्रतावस्थाके दृष्टिकोणसे स्वप्नके सारे अनुभव असत्य होते है, किन्तु उनके असत्य होनेकी चेतनता फिर भी सत्य रूपमें बनी रहती है। जाग्रतावस्थामें स्वप्नके पदार्थ तो असत्य हो जाते है किन्तु उनके असत्य हो जानेकी चेतनता स्वय असत्य नही हो जाती।[5]

---

१ अपरोक्षत्वात् प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः (शंकर भाष्य; १।१।१)

२ आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्राग् एव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्ध्यति (शंकरभाष्य; २।३।७)।

३ इन्द्रियाजन्यविषयगोचरापरोक्षान्तःकरणवृत्त्यवस्था स्वप्नावस्था—(वेदान्त परिभाषा)

४ नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने सम्भाव्यते (शंकरभाष्य; ३।२।३)

५ दे०, शकरभाष्य; २।१।१४।

नीदमें केवल साक्षी और अविद्या रह जाते है। साक्षी और अविद्या की इस उपस्थितिको कारण-शरीर कहते है। स्वप्नरहित निद्रावस्थामें जीव अचेतन प्रतीत होता है। उसके अचेतन प्रतीत होनेका कारण चेतनता की अनुपस्थिति नही है किन्तु चेतनताके विषयोकी अनुपस्थिति है। प्रकाश-की प्रतीति तव तक नही हो सकती जव तक वे वस्तुएं उपस्थित न हो जिन्हें वह प्रकाशित करता है, प्रकाशका अपना स्वभाव अपहित नही हो जाता।[1] साक्षी और अविद्याके रह जानेसे नीदका अनुभव विशिष्ट हो जाता है जिसमें न तो ज्ञाता ही होता है और न चेतनताकी अवस्थाएँ ही। इस अवस्थामें सविकल्पक ज्ञानकी पूरी अनुपस्थिति रहती है। सुषुप्तावस्था में जीव अपने उस शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेता है जो जाग्रति और स्वप्नमें उपाधियोसे युक्त होनेसे दूषित रहता है।[2]

उपाधि उसे कहते है जिसके आरोपणसे कोई वस्तु सीमित या परि-च्छिन्न हो जाय। आकाश व्यापक है किन्तु घटमें जो आकाश है वह घट-की उपाधिसे सीमित हो जाता है। नीदमें अविद्यासे सम्वन्धित रहनेके कारण साक्षी परिच्छिन्न रहता है जिससे नीदमें वैयक्तिकता वनी रहती है। नीदमें अविद्या सत्यके सच्चे स्वरूपको ढँके तो रहती है किन्तु उसको जाग्रत और स्वप्नावस्थाकी भाति नाम और रूपमें विभक्त नही करती।

प्रत्यक्षके समय अन्त करणकी वृत्ति वस्तुका आकार ग्रहण कर लेती है। वृत्तिके विषयाकार हो जानेके वाद साक्षी अपनी चेतनतासे वृत्तिको प्रकाशित कर देता है। इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञानमें वृत्ति तो सयोगात्मक है किन्तु चेतनता नित्य। ज्ञान या तो अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होता है या परोक्ष। वाह्य वस्तुओका ज्ञान होनेके समय वृत्ति वहिर्मुखी

---

१ विषयाभावादियमचेतयमानता न चैतन्याभावादिति। यथा विषयाश्रयस्य प्रकाशस्य प्रकाश्याभावादनभिव्यक्तिर्न स्वरूपाभावात् तद्वत् (शकरभाष्य, २।३।१८)

२ वे०, शकरभाष्य; ३।२।७।

हो जाती है और आन्तरिक अवस्थाओ अर्थात् सुख-दु ख आदिके अनुभवके समय अन्तर्मुखी ।[१]

अद्वैतके अनुसार ज्ञान कभी भी निर्विषयक नही होता । भ्रममें भी ज्ञेय वस्तु विद्यमान रहती है । भ्रम व्यक्तिको ही होता है । साधारण ज्ञानकी वस्तुएँ सबके लिए समान होती है । भ्रमको अद्वैतमें अध्यास कहा गया है । अध्यासका अर्थ किसी वस्तुका असली स्वरूप न देख सकना है । अध्यासमें दो अलग अलग स्तरकी वस्तुओको मिलाकर उन्हें समान समझ लिया जाता है जिससे सत्यता ज्ञात नही हो पाती । जिस प्रकार स्मृतिज्ञानमें ज्ञानका विषय उपस्थित नही होता उसी प्रकार अध्यासमें ज्ञानका विषय अपने सच्चे रूपमें उपस्थित नही होता ।[२]

अद्वैतमें सत्पदार्थका अर्थ बडे महत्त्वका है । किसी पदार्थका भाव उसका सत् होना नही है । सत्ता किसी पदार्थके सत् होनेकी कसौटी नही है । सत्पदार्थ वह है जिसका तीनो कालमें बाध न हो और असत् वह है जिसकी तीनो कालमें प्रतीति न हो । सत्य वही है जिसका वाध न हो ।[३]

सीपमें चादीकी जो प्रतीति होती है उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् । सीपमें चादीका अध्यास सत् नही है क्योकि बादमें यथार्थ ज्ञानसे सीपमें चादीका बाध हो जाता है, सीपमें चादीका भ्रम असत् भी नही है क्योकि उसकी प्रतीति होती है । भ्रमकी अब तक जितनी व्याख्याएँ—असत्ख्याति, आत्मख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति, विपरीत-ख्याति आदि—की गई है अद्वैत उन्हें दोषपूर्ण मानता है और भ्रमकी व्याख्या अनिर्वचनीय ख्यातिसे करता है ।

---

१ दे०, वेदान्तपरिभाषा ।

२ स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः (वेदान्तभाष्य भूमिका)।

३ अबाधितानधिगतासंदिग्धबोधजनकत्वं हि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम् (भामती; १।१।४ ।

साधारणत अनिर्वचनीयका अर्थ है जिसका वर्णन न हो सके। यहा अनिर्वचनीयका अर्थ है किसी वस्तुको सत् या असत् न कह सकना। सत् और असत् दोनोसे विलक्षण वस्तुएँ अनिर्वचनीय है।

हम देख चुके हैं कि नैयायिकोका असत्कार्यवाद और साख्यका सत्कार्यवाद दोनो ही सिद्धान्त दोषपूर्ण है। अद्वैतका मत है कि कार्य उत्पत्तिसे पहले न तो सत् होता है और न ही असत्। वह वस्तुत अनिर्वचनीय होता है। कार्यके अनिर्वचनीय होनेको विवर्तवाद कहते है। उपादान कारणका सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और असदृश कार्य विवर्त।[1] दूधसे दहीका बनना सदृश कार्य है और रस्सीमें सापकी प्रतीति असदृश कार्य। दूध-दहीकी सत्ता और रस्सी-सापकी सत्ताकी श्रेणीमें भेद है। दहीकी सत्ता देश और कालमें होती है और सापकी सत्ता केवल कल्पनामें। देश और कालमें होनेवाली सत्ताको व्यावहारिक सत्ता कहा जाता है। सत्ता जब देश और कालमें न होकर केवल कल्पनामें ही होती है तब उसे प्रातिभासिक सत्ता कहते है।

सत् वह है जिसका कभी बाध न हो। यद्यपि व्यावहारिक सत्ताकी वस्तुओका बाध होता रहता है फिर भी हम उनमें सत्ताका आरोप करते है। यह अध्यास है अर्थात् हम सत्ताका आरोप एक ऐसे स्तरपर भी करते है जहा वस्तुओका बाध होता रहता है। जिस प्रकार सीपमें चादीकी प्रतीति सीपका अपना रूप नही है उसी प्रकार जगत्में सत्ताकी प्रतीति भी सत्ताका अपना रूप नही है। जगतकी वास्तविक सत्ता है तो नही किन्तु उसकी प्रतीति जगत्में उसी प्रकार होती है जिस प्रकार रस्सीमें सापकी। लेकिन जगत्में सत्ताकी प्रतीति और रस्सीमें सापकी जो प्रतीति होती है उसमें अन्तर है। रस्सीमें सापका विवर्त एक ऐसा भ्रम है जो रस्सीके यथार्थ ज्ञान होते ही दूर हो जाता है। किन्तु जगत्में सत्ताकी प्रतीति एक ऐसे सार्वभौमिक भ्रमके कारण होती है जो हमारे अनुभवकी

---

१ कारणस्वलक्षणान्यथाभाव· परिणाम तद्विलक्षणो विवर्त·।

पहली शर्त है। जगतके अनुभवके मूलमें इसी सार्वभौमिक भ्रमकी उपस्थिति होनेसे अद्वैत जगत्को अनिर्वचनीय, मिथ्या और सापेक्षिक सत्तावाला कहता है। व्यावहारिक सत्ता, जिसका वाध होता रहता है, एक ऐसी सत्ताकी ओर इशारा करती है जिसका वाध न हो और वह है पारमार्थिक सत्ता।

पारमार्थिक सत्ताको अद्वैत ब्रह्म कहता है। ब्रह्मकी सत्ता ही एक ऐसी सत्ता है जिसका कभी वाध नही होता। अद्वैतकी सत्पदार्थकी कसौटी-के अनुसार ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। शेष सब पदार्थ ऐसे है जिन्हें न तो सत् कहा जा सकता है—क्योकि उनका वाध हो जाता है—और न ही असत् क्योकि उनकी प्रतीति होती है। जगत्के पदार्थ मिथ्या है। अद्वैत जब जगत्को मिथ्या घोषित करता है तो उसका यह अभिप्राय नही है कि जगत् असत् या स्वप्नवत् है।[1] सही ज्ञानसे पता चलता है कि कोई वस्तु उस अन्य वस्तुसे आशिक या पूर्णरूपसे सबन्धित नही थी जिसमें उसकी प्रतीति हो गई थी। रस्सीमें सापका भ्रम रस्सीसे किसी प्रकार न तो सम्वन्धित था, न है और न होगा।[2] इसी प्रकार सत्ता न तो जगत्से सम्व-न्धित थी, न है और न होगी। भ्रम वह है जिसकी सत्ता किसी वस्तुमें प्रतीत तो होती है किन्तु वस्तुत होती नही।[3] यहापर यह आक्षेप उठाया जा सकता है कि किसी वस्तुका एक ही समय 'भाव' और 'अभाव' दोनो कैसे सम्भव है? किन्तु यहा 'अभाव'का एक विशेष अर्थ है। अभावका अर्थ उस वस्तुके 'भाव'को अस्वीकृत करना है जो तीनो कालमें वाधित रहती है। अतएव यहा 'भाव' और 'अभाव'की इस विलक्षण उपस्थिति पर यह आक्षेप नही किया जा सकता। जगत्को मिथ्या कहनेका यही आशय है कि उसकी सत्ता अनिर्वचनीय है और पारमार्थिक सत्ताके दृष्टि-

---

१ दे०, शंकरभाष्य; २।२।२८।

२ प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।

३ स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्।

कोणसे उसका कोई महत्व नही है। जिस प्रकार साप रस्सीका विर्वत है उसी प्रकार जगत् ब्रह्मका विवर्त है। जिस प्रकार व्यावहारिक सत्ताके बिना प्रातिभासिक सत्ता नही हो सकती उसी प्रकार पारमार्थिक सत्ताके विना व्यावहारिक सत्ता भी नही हो सकती ।

शकरने विज्ञानवादियोके प्रतिकूल वाह्य जगत्की सत्ताको माना है। प्रत्यक्ष विज्ञानोका न होकर विषयोका होता है। विज्ञानवादियोने सदा एक साथ पाई जानेवाली वस्तुओमें तादात्म्य सम्वन्ध मान लिया था। नीलेरग और उसकी धारणामें सहोपलम्भ नियम होनेसे विज्ञानवादी नीलेरग और उसकी धारणामें तादात्म्य समझते थे (सहोपलम्भनियमाद् अभेदो नीलतद्धियो) और इसी वलपर वाह्य सत्ताको अस्वीकार कर देते थे। शकरके मतसे नीलारग और उसकी धारणा दो अलग अलग चीजें है और उनमें तादात्म्य नही है। हम नीलेरगका प्रत्यक्ष करते है, हमें नीलेरगकी धारणा होती है। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष या हमारी धारणा नीलेरगकी नही हो जाती। जिस वस्तुका प्रत्यक्ष हमें होता है उस वस्तुकी वाह्य सत्ता होती है। स्तम्भ, दीवार, घट और पटकी वाह्य सत्ता है (उपलभ्यते हि प्रतिप्रत्यय वाह्योऽर्थ स्तम्भ, कुड्य, घट, पट इति)। वस्तुओको इन्द्रियोके सयोगसे देखा जाता है और हम यह नही कह सकते कि उनका प्रत्यक्ष नही होता या उनकी सत्ता नही है।[१] वाह्य जगत्की वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्ष या हमारी धारणासे सर्वथा भिन्न होती है क्योकि कोई यह नही कह सकता कि उसका दीवार या स्तम्भका प्रत्यक्ष ही दीवार या स्तम्भ है।[२] चेतनता और उसके विषय परस्पर भिन्न होते हैं—तस्माद् अर्थज्ञानयोरभेद ।

---

१ इन्द्रियसन्निकर्षेण स्वय उपलभमान एव वाह्य अर्थं नाऽहम् उपलभे न च सोऽस्तीति ब्रुवन कथ उपादेयवचन. स्यात् ।

२ यत उपलब्धिव्यतिरेकोऽपि बलाद् अर्थस्य अभ्युपगन्तव्य उपलब्धेर एव; न हि कश्चिद् उपलब्धिम् एव स्तम्भ. कुड्य च इति उपलभते।

अद्वैतमें सत्ता (ब्रह्म)की चेतनतापर बडा जोर दिया गया है। चेतन-तत्वके विना जगत् नेत्रहीन हो जाता है। चेतनताकी सिद्धि प्रमाणो आदिसे नही हो सकती। आगन्तुक वस्तुका ही निराकरण किया जा सकता है, अपने स्वरूपका नही। चेतनतत्व तो निराकरण करनेवालेका ही अपना स्वरूप होता है। आग अपनी गर्मीका निराकरण नही कर सकती।[1] जिस चेतनतत्वसे सारे प्रमाणोकी सिद्धि होती है वह स्वय प्रमाणोसे कैसे सिद्ध हो सकता है ?[2] चेतनतत्वका आवश्यक गुण है आनन्द। जो वस्तु अपनी सत्तामात्रसे ही परार्थताको छोड देती है उसे आनन्द कहते है। जगत्के पदार्थोकी इच्छा आनन्द पानेके लिए की जाती है किन्तु आनन्द पानेकी इच्छा किसी अन्य वस्तुके लिए नही की जाती। वह तो आनन्दके लिए ही की जाती है। सव वस्तुएँ आनन्दके लिए है किन्तु आनन्द स्वय किसीके लिए नही है। इसी प्रकार सव पदार्थ चेतनतत्वके लिए है किन्तु चेतनतत्व किसीके लिए नही है।[3] सत्ताका अर्थ है चेतनता और चेतनताका अर्थ है आनन्द। यही अद्वैतका ब्रह्म है जिसका स्वरूप सत् चित् और आनन्द है। चेतनतत्वमें दु ख आदिकी जो प्रतीति होती है वह अध्यासके कारण होती है।

चेतनतत्व स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश होनेका अर्थ है चेतनताकी सारी क्रियाओमें सदा उपस्थित रहना किन्तु चेतनताका विषय न वनना।[4] चेतनताका विषय न होनेसे ब्रह्मका वर्णन नही हो सकता, क्योकि वर्णन करनेका अर्थ ज्ञानका विपय वना लेना है। शकरने इसीलिए ब्रह्मको 'एकता' न कहकर 'अद्वैत' कहा है। उसका आभास 'नेति' 'नेति' कहकर

---

१ आगन्तुक हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते (वेदान्त भाष्य; २।३।७)।

२ यतोराद्धि प्रमाणाना स कथं तैः प्रसिध्यति।

३ दे०, सक्षेप शारीरक, १।२४।

४ अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्।

ही हो सकता है।[1] जगत्के सब पदार्थोंकी सत्तासे इनकार करके ही ब्रह्म की सत्ताका कुछ अनुमान किया जा सकता है। ब्रह्म जगत्की अनेकताके सदृश एकता नही है क्योकि एकता और अनेकता दोनो ही सापेक्षिक है और एकके आधारपर दूसरेकी सत्यता निर्धारित नही की जा सकती। एकता और अनेकता दोनो ही समानरूपसे प्रातिभासिक है और ब्रह्म उनसे परे उनकी अप्रातिभासिक पृष्ठभूमि है। ब्रह्म 'केवल' एकता नही है क्योकि 'केवल' एकता आकाशकुसुम है। वाचस्पतिके मतसे शकरने ब्रह्ममें 'अनेकता'को अस्वीकार किया है किन्तु 'एकता'का प्रतिपादन नही किया।[2] ब्रह्म उपाधिशून्य शुद्ध चेतनतत्व है।

यदि ब्रह्म ही सत्य है तो यह जगत् कैसे और कहासे उत्पन्न हुआ ? भेदहीनसे भेदकी रचना कैसे हुई ? अद्वैतका उत्तर है कि भेदका कारण माया या अविद्या है।[3] नाम और रूपकी उपाधिसे युक्त होकर ही भेद-हीन भेदवाला हो जाता है। माया अनिर्वचनीय है, अनादि है और इस अर्थमें भावरूप है कि उसका अभाव नही है।[4] माया और अविद्यामें अन्तर है। माया 'एक'को 'अनेक' करके दिखानेवाला सिद्धान्त है। अविद्या ज्ञानपर आवरण डाले रहती है।[6] मायाको मिथ्या ज्ञान या विचारका अभाव नही कहा जा सकता। अनिर्वचनीय और अनादि होनेसे माया 'द्रव्य' नही है। द्रव्य न होनेसे माया समवायिकारण भी नही हो सकती। मायाके स्वरूपको मायाकृत कार्योंके स्वरूपसे ही समझा जा

---

१ दे०, शकरभाष्य; ३।२।२२।

२ दे०, भामती, २।१।१४।

३ दे०, शकरभाष्य; १।३।१६।

४ अनादिभावरूपत्वे सति।

५ दे०, शकरभाष्य; १।३।१६।

६ एकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेपप्रधानेन मायाऽऽच्छादनप्रधानेनाविद्येति (विवरणप्रमेयसग्रह)

सकता है। उपादान कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नही हो सकती। असत् कार्य सत् उपादान कारणका परिणाम नही हो सकता। अभावात्मक और क्षमतारहित वस्तु उपादान कारण नही हो सकती। जगत्के पदार्थ मिथ्या है इसलिए उनका कारण न तो वह वस्तु हो सकती है जिसका अभाव हो और जो असत् हो और न ही वह जो सत् हो। अतएव जगत् की उत्पत्तिके लिए किसी ऐसे कारणको मानना पडता है जो न सत् हो और न असत्।[1] यही माया है। जगत् ब्रह्मका विवर्त है और मायाका परिणाम।

मायाकी सत्ता प्रातीतिक है। माया और ब्रह्ममें कोई सम्बन्ध नही है। मायाका ब्रह्मपर कोई प्रभाव नही पडता। मायाका प्रभाव केवल व्यक्तिपर ही पडता है। वह व्यक्तिमें ही दोष उत्पन्न करती है। नदीकी लहरोमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब टुकडे टुकडे होकर दिखाई पडता है तथापि उससे चन्द्रमापर कोई प्रभाव नही पडता। देखनेवाला ही उसे खण्डितरूपमें देखता है।[2] जिस प्रकार घटकी उपाधिसे आकाश परिच्छिन्न हो जाता है उसी प्रकार मायाके कारण ब्रह्म भी सीमित और नाम रूपोकी अनेकता लिए हुए प्रतीत होने लगता है। जगत् देश और कालके स्तरपर ब्रह्मका अनुवादमात्र है। जिस प्रकार मौलिक अपनी सत्ताके लिए अनुवादपर आश्रित नही होता उसी प्रकार ब्रह्म भी अपनी सत्ताके लिए जगत्पर आश्रित नही है।

मृगमरीचिकाके भ्रममें हम पानी और उसमें पेडो आदिकी उलटी परछाई देखते है। ऐसा प्रकाशकी किरणोके कारण होता है। हवाके विभिन्न तापक्रमपर गर्म स्तरोपरसे गुजरती हुई किरणें हमारी आखोके सामने दूर नीले आकाशका प्रतिबिम्ब धरतीपर डालती हैं। पानी और

---

१ दे०, न्यायमकरन्द; पृ० १२३।

२ दे०, शंकरभाष्य; २।१।३१।

आकाशका रग एक होनेसे हम धरतीपर आकाशके प्रतिविम्वको आसानी से पानी समझ लेते है, क्योकि धरतीपर पानीका होना और आकाशका न होना हमारे पूर्व अनुभवसे सिद्ध है। दूसरे वस्तुओका उलटा प्रतिविम्व पानीमें ही पडता है। स्पष्ट है कि भ्रममें हमारा मस्तिष्क पूर्व अनुभवोकी प्रेरणापर काम करता है। भ्रमका समाधान होनेपर जव वास्तविकता का ज्ञान होता है तव यह जानकर कि भ्रमका कोई वाह्यगत आधार नही था और वह हमारे मस्तिष्कके प्रक्षेपणके कारण था हमें एक सुखद कौतूहल होता है और हम भ्रमको कोई महत्त्व नही देते।

रस्सी और सापके भ्रममें हमारे मस्तिष्कमें रस्सीकी एक धुधली रूपरेखा पहलेसे ही विद्यमान रहती है। प्रकाशके अभावसे हम रस्सीको पूर्णतया नही देख पाते और हमारे मस्तिष्कके अन्दर सापकी धारणा, जो रस्सीकी धारणासे अधिक स्पष्ट और तीव्र होती है, अँधेरेमें रस्सीकी धुधली रूपरेखापर आरोपित हो जाती है। वास्तविक ज्ञान होनेपर और यह जानकर कि हमारा मस्तिष्क पहले सीखी हुई आदतोके अनुसार किस प्रकार तुरन्त धारणा वना लेता है हमें फिर सुखद कौतूहल होता है।

ललित-कला—कविता, चित्र, नाटक—में हम दुखद दृश्य देखकर दुखी ही नही होते उसमें रस भी लेते है। कला हमारी भावनाओको अवैयक्तिकरूपमें उपस्थित करती है जिनसे हमारा कोई सीधा सम्वन्ध नही होता। प्रत्यक्ष भ्रममें हम कुछ देरतक भ्रमको भ्रम नही समझते किन्तु कला द्वारा दृश्यो या वस्तुओकी भ्रामक उपस्थितिको हम पहलेसे ही जानते है। ललित कलाओ द्वारा प्रस्तुत भ्रममें हमारे स्थायीभाव जाग्रत होकर कलाके सकेतो और मुद्राओपर आरोपित हो जाते है। यही कारण है कि हम कला द्वारा प्रस्तुत भ्रममें रस और आनन्द लेते है।

इससे हमारे मस्तिष्ककी दो विशेषताओका पता चलता है। एक तो हमारा मस्तिष्क अर्थपूर्ण भावनाओकी कल्पनाओका प्रक्षेपण कर सकता है जो वाह्यता लिए हुए लगती हैं। दूसरे वह उन प्रक्षेपित कल्प-

नाओमें, जब उनकी वाह्यता भ्रम सिद्ध हो जाती है, रस और आनन्द भी लेता है।

जगत्‌की वाह्य कटुतासे क्षरण भरको मुक्त हो सकनेके लिए मनुष्यने सदासे कला—कविता, सगीत, चित्रकारी, नृत्य, नाटक—का सहारा लिया है। वह कला साधनामें वस्तु-जगत्‌की वाह्य कठोरतासे कुछ देरके लिए उन्मुक्त होकर अपने अन्तर्जगत्‌के स्वच्छन्द वातावरणमें विचरण करता है, उसमें रस लेता है। उस दशामें उसे जगत्‌की कटु वाह्यता तुच्छ लगती है और वस्तु जगत् भी एक सार्वभौमिक भ्रम सा ही प्रतीत होता है। क्या इस अनुभवके पीछे कोई गम्भीर तथ्य नही हो सकता ?

हो सकता है। प्रत्यक्ष भ्रम हमारे मस्तिष्ककी विशेषताओके कारण होता है। किन्तु सार्वभौमिक भ्रमका कारण कोई समष्टिगत मस्तिष्क ही हो सकता है क्योकि जगत्‌की सत्ता किसी व्यक्ति विशेषके मस्तिष्कपर निर्भर नही है। वह समष्टिगत मस्तिष्क प्रत्येक व्यक्तिके मस्तिष्कमें व्याप्त है और यदि व्यक्ति अपने उपाधि जनित व्यक्तित्वको नष्ट कर दे तो वह उस समष्टिगत मस्तिष्कको प्राप्त कर सकता है। यह कलात्मक अनुभवसे स्पष्ट है।

कला-वस्तुओकी सृष्टिका मुख्य प्रयोजन अपनी सृजन शक्तिका प्रदर्शन करना और अपनी इस क्षमतामें रस लेना है। जगत् समष्टिगत मस्तिष्क के प्रक्षेपणका परिणाम है। प्रत्यक्ष-भ्रम हमारे पूर्वअनुभवोपर आधारित होता है और उसका ज्ञान जगत्‌की वाह्यताकी अपेक्षासे होता है। किन्तु समष्टिगत मस्तिष्क द्वारा प्रक्षेपित भ्रम—जगत्—न तो उस मस्तिष्कके पूर्व अनुभवोपर आधारित होता है और न ही वाह्यता पर। समष्टिगत् मस्तिष्कमें पूर्वअनुभव और वाह्यता माननेपर अनवस्था दोष हो जाता है। समष्टिगत मस्तिष्कमें कलात्मक रस मौलिक रूपसे विद्यमान रहते है और उसमें उनको प्रक्षेपित करनेकी शक्ति और अपने प्रक्षेपणके प्रदर्शन में रस और आनन्द लेनेकी क्षमता होती है। ऐसे समष्टिगत मस्तिष्कको

अद्वैतमें ईश्वर कहा गया है। जगत् ईश्वरका प्रक्षेपण है और उसकी इस प्रक्षेपण लीलाका प्रयोजन रसानुभूति है। चूकि ईश्वर—समष्टिगत मस्तिष्क—हममें व्याप्त है इसलिए हम अपनी उपाधियोंको नष्ट कर ईश्वररूप हो सकते हैं और जगत्को लीला समझकर उसमें रस और आनन्द ले सकते है। अद्वैतका जगत् विषयक यह दृष्टिकोण भारतीय इतिहासकी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस दृष्टिकोणका भारतीय इतिहास पर क्या और कैसा प्रभाव पडा यह इस पुस्तकके क्षेत्रके बाहरका विषय है।

कारण या कार्यरूपमें जगत्की सत्ता ईश्वरपर आधारित है। ईश्वर सगुण है और कार्य-ब्रह्म है। मायाकी उपाधिमे ब्रह्म ही ईश्वर बन जाता है।[1] ईश्वर जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। जिस तरह एक ही पृथिवीसे नाना प्रकारकी वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है उसी तरह ईश्वरसे जीवों और कार्योंकी अनेकताकी उत्पत्ति होती है[2]। एकसे अनेक होनेमें ईश्वरकी एकतापर आघात नही होता। जादूगर अपनी माया से उत्पन्न की गई वस्तुओंसे स्वय प्रभावित नही होता।[3] ईश्वर अविद्यासे अछूता रहता है।[4]

ब्रह्म अविद्याकी उपाधिसे ईश्वर हो जाता है। वही ब्रह्म चेतनता या बुद्धिपर प्रतिबिम्बित होकर जीव बन जाता है। यह सिद्धान्त आभास-वाद कहलाता है।[5] आभासवादके अनुसार प्रतिबिम्ब अपने आपमें ही असत्य होता है। जीव और जगत् अविद्यामें सत्यका प्रतिबिम्ब है। अविद्याके निरोधसे प्रतिबिम्बोंका भी निरोध हो जाता है। सत्य बिम्ब

---

१ दे०, शकर, छादोग्य उप० भाष्य, ३।१४।२।

२ दे०, शकरभाष्य; २।१।२३।

३ दे०, वही, २।१।६।

४ दे०, वही, ३।२।६।

५ दे०, शकर, बृहदा० उप० भाष्य; २।४।१२।

बिम्ब सत्य है। इस सिद्धान्तको बिम्बप्रतिबिम्बवाद कहते है।[1] किन्तु यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। नाम-रूपरहित वस्तुका प्रतिबिम्ब ही क्या हो सकता है ? इस दोषसे बचनेके लिए यह माना गया है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बमें कोई भेद नही है। इसे बिम्बप्रतिबिम्बाभेदवाद कहते है। जो 'उपाधि' और 'प्रतिबिम्ब'की धारणाको नही मानते[2] उनका मत है कि जीव ही अपने स्वभावसे अनभिज्ञ कूटस्थ ब्रह्म है। शकरका रुझान भी इधर ही है। वैयक्तिक चेतनता ब्रह्मकी अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति है।[3]

ईश्वरकी सत्ता भी व्यावहारिक है। जगत्की भाति ईश्वर भी ब्रह्मका विवर्त है और ज्ञानीके लिए उसका कोई महत्त्व नही है। अद्वैतके अनुसार मोक्ष प्राप्त करने योग्य कोई नवीन अवस्था नही है। वह तो जीव की सच्ची प्रकृति ही है और उसको प्राप्त करनेका कोई साधन नही बताया जा सकता। ज्ञानसे ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। साक्षात्कार होनेसे अविद्या नष्ट हो जाती है और तब व्यक्ति अपने अन्दर सदासे निहित सत्यको जान लेता है। साक्षात्कारके लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन आवश्यक है।

किन्तु अविद्याके नष्ट होनेका क्या अर्थ लगाया जाय ? अविद्याका अर्थ यदि विद्याका अभाव है तो अविद्याके नष्ट होनेकी बात करना व्यर्थ है। किसी वस्तुका निरोध तभी हो सकता है जब उस वस्तुकी भावात्मक सत्ता सभव हो। अविद्या विद्याका अभाव न होकर एक भावरूप वस्तु है जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जिसे अनुमानसे सिद्ध किया जा सकता है। 'मुझे तुम्हारी बात समझमें नही आती' इस कथनमें अविद्या-

---

१ दे०, रत्नावली; पृ० ११४

२ दे०, साख्यप्रवचनभाष्य; १।१५२–५३।

३ दे०, शंकर, वृहदा० उप० भाष्य; २।१

की भावरूप सत्ताकी प्रत्यक्ष अनुभूति विद्यमान है। इस कथनमें किसी बातका निरोध निहित नही है।[1]

ज्ञानसे अविद्याका नाश मानना असगत है। यदि ज्ञानमे अविद्याका नाश होना माना जाय तो ब्रह्मके माथ साथ अविद्याके नाश होनेको भी सत् मानना पडता है। यह अद्वैतकी शिक्षाके प्रतिकूल है क्योकि अद्वैतके अनुसार एक ब्रह्म ही सत् पदार्थ है। अविद्याका अत्यन्ताभाव भी नही माना जा सकता क्योकि तब ज्ञान नष्ट किसे करेगा? (नाऽप्यमति ज्ञान-साध्यत्वयोगात्)। विरोधाभाससे बचनेके लिए अविद्याको एक साथ सत् और असत् दोनो नही माना जा मकता (नाऽपि सद्असद्रूपविरोधात्)। सुरेश्वरके मतमे[2] अविद्याका नाश होना ही ब्रह्म है (आत्मैव इति)। औरोके मतानुसार[3] अविद्यानिवृत्ति भी अनिर्वचनीय है।

(ग) विशिष्टाद्वैत

विशिष्टाद्वैतके प्रतिपादक रामानुजका जन्म १०८४ सवत्के लगभग हुआ था। रामानुजने ब्रह्मसूत्रोपर 'श्रीभाष्य' तथा गीता आदिपर भी भाष्य लिखे है। रामानुजकी विचारधारा अद्वैतके निर्गुण ब्रह्मके विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है। मनुष्यका हृदय ऐसे सत्यको ग्राह्य करनेको तैयार नही जिसमें उसकी कोमल भावनाओका स्थान न हो। उसकी भक्ति और दु खोसे उदासीन सत्य उसको क्या प्रेरणा दे सकता है! यदि जगत्

---

१ त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनाभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च, न चैव दृश्यते, स्वत प्रामाण्यपक्षे तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेषकत्वे तु गृह्यमाणे तद्वत्वग्रहणस्य आवश्यकता तदशे तत्प्रकारक-तद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने सम्भवात् स्पष्ट एव व्याघात भावरूपज्ञानपक्षे तु सर्वस्याऽपि साक्षिवेद्यतया न व्याघात —अद्वैतसिद्धि।

२ दे०, ब्रह्मसिद्धि।

३ दे०, सिद्धान्तलेश।

मिथ्या है, यदि हमारी स्वय कोई सत्ता नही है तो हम ससार-सागरमें पडी हुई पतवाररहित नौकाके समान कितने विवश है और हमारे सारे कर्म कितने अर्थहीन है ! अद्वैतका तटस्थ और अनुदार दृष्टिकोण हमें उत्साहित करनेके बजाय निरुत्साहित ही करता है। रामानुजने सगुण ब्रह्मका दृष्टिकोण उपस्थित कर जीव और जगत्‌की स्वतत्र सत्ताकी रक्षा की है।

रामानुजके अनुसार ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेय दोनो होते है। ज्ञानमें भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। मनस्‌के लिए भेद न की गई वस्तुको समझ लेना असम्भव है। हरेक वस्तुका ज्ञान उसकी किसी विशेषताके द्वारा ही होता है।[1] न्यायवैशेषिकके अनुसार प्रत्यक्ष पहले निर्विकल्पक होता है। पहले हम किसी वस्तुको उसकी अलग अलग इकाइयोमें देखते है। रामानुज इससे सहमत नही है । जब हम पहले पहल गायको देखते है तब भी उसे कोई न कोई विशेषता लिए ही देखते है। यह प्रत्यक्षकी निर्विकल्पक अवस्था है। दूसरी बार जब हम गायको देखते है तो उसी क्षण हमें पहले देखी हुई गायका स्मरण हो आता है। इस बार हम पहले देखी हुई गायके प्रकाशमें गायको देखते है और समझ जाते है कि यह भी गाय है। पहली वस्तुके प्रकाशमें दूसरीको देखना ही सविकल्पक प्रत्यक्ष है। जगत्‌की वस्तुओके अतिरिक्त पारमार्थिक सत्यका ज्ञान भी सगुणरूपमें ही होता है।

ज्ञान वस्तुको प्रदर्शित मात्र ही कर सकता है। प्रकाशके समान ज्ञान अपनी उपस्थितिके साथ वस्तुकी उपस्थिति भी करा सकता है किंतु स्वय न तो अपने आपको जान सकता है और न वस्तुको ही। ज्ञान न तो जड है और न चेतन ही। वह जड और चेतनके बीचकी चीज है। जाननेका व्यापार आत्मासे प्रारम्भ होकर मनस् तक पहुँचता है और तब इन्द्रियो द्वारा निकलकर वाह्य वस्तुओके सम्पर्कमें आकर आकार धारण करता है। ज्ञान अपने लिए न होकर ईश्वर या जीवके लिए होता

---

१ सविशेषवस्तुविषयत्वात् सर्व प्रमाणम्।

है। ज्ञान ईश्वर या जीवकी प्रमुखता है और उसे धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। धर्मभूत ज्ञान अपने ज्ञातासे सदा सम्बन्धित रहता है। ज्ञाता होनेका अर्थ है ज्ञान (गुण)का आधार होना। और चूकि ज्ञाता नित्य है अतएव उसका गुण—ज्ञान—भी नित्य है। ज्ञान स्वप्रकाश तो है किंतु वह वेद्य भी है। जीव केवल ज्ञाता ही है, ज्ञानस्वरूप नही। ज्ञान किसी वस्तुके सम्वन्धके बिना नही हो सकता। नीदमें ज्ञान नही होता क्योकि नीदमें पदार्थ नही होते। जागनेपर नीदमें अपनी अचेतनताके अनुभवसे यह स्पष्ट है कि नीदमें अहकारकी उपस्थिति रहती है। अनुपस्थिति केवल ज्ञानके विषयो की ही होती है।[1] जीव ज्ञानस्वरूप न होकर ज्ञाता या ज्ञानका विषय ही है।

वस्तुओकी सत्ता ज्ञानपर निर्भर नही है। वस्तुओकी सत्ताको ज्ञानकी अपेक्षा नही है। ज्ञान सदा यथार्थताका ही होता है।[2] तो भ्रम कैसे होता है? भ्रमकी व्याख्या रामानुजने सद्ख्यातिसे की है। सद्ख्यातिके अनुसार जो होता है उसे ही जाना जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि जो है वह पूर्णरूपसे जाना जाता है। भ्रम अपूर्ण ज्ञानसे होता है। सत्य वही नही है जो यथार्थ हो, उसे व्यवहारानुगुण भी होना चाहिए।[3] भ्रमका पता लगनेपर उसका प्रभाव चेतनताके प्रतिक्रियात्मक पक्षपर ही पडता है, ग्राह्यपक्षपर नही।

जिस वस्तुमें गुण हो वह द्रव्य कहलाती है। उस वस्तुके आधारको द्रव्य कहते है और आधेयको अद्रव्य। 'प्रकार' और 'सम्बन्ध' अद्रव्य हैं। द्रव्य उपादानकारण बन सकता है, किन्तु अद्रव्य नही बन सकता।[4] अद्रव्य दश हैं। पाँच भूतोकी विशेषताएँ, तीन गुण, शक्ति और सयोग।

---

१ श्रीभाष्य, १।१।१।

२ सर्वं विज्ञानजात यथार्थम्।

३ दे०, यतीन्द्रमतदीपिका।

४ तत्त्वमुक्ताकलाप, ५।२।

द्रव्य छह हैं : प्रकृति, काल, शुद्धसत्व, धर्मभूत ज्ञान, जीव और ईश्वर।[1] पहले तीन द्रव्य जड हैं। जीव और ईश्वर अजड है। धर्मभूतज्ञान जड और अजड दोनो है।

प्रकृति जीव या ईश्वरके सर्वथा अधीन है।[2] यहाँ प्रकृतिके तीन गुण साख्यकी भाँति उसके निर्माता न होकर उसकी विशेषताएँ है। शुद्ध-सत्व प्रकृतिकी दिव्यता है। मानसिक जगत्‌की सृष्टि शुद्ध सत्त्वसे ही होती है। ईश्वर सर्वव्यापक है। रामानुजने ईश्वरको विष्णु (जो व्यापक हो) कहा है और उसमें वैयक्तिकता मानी है।

किसी द्रव्यके आधेय तत्त्व विशेषण कहलाते है और उसमें जिस तत्त्व-की प्रधानता होती है वह विशेष्य कहलाता है। विशेषणोकी अपनी कोई सत्ता नही होती। वे सब जिससे सम्बद्ध रहते है वह 'विशिष्ट' होता है और उसमें एकता रहती है। नीलापन और कमल दो स्वतत्र वस्तुएँ है। किन्तु नीलापन एक गुण है जो अपनी सत्ताके लिए किसी द्रव्य—यहाँ कमल—पर अवलम्बित रहता है। गुण और द्रव्यका सम्बन्ध वाह्य नही होता। उनमें अपृथक्‌सिद्धि सम्बन्ध होता है। अपृथक्‌सिद्धि सम्बन्ध समवायकी भाँति वाह्य न होकर आन्तरिक होता है। कमल और नीलेपनमें भेद होते हुए भी आन्तरिक सम्बन्ध है। कमल विशिष्ट है और उसमें नीलेपनका गुण आवश्यक रूपसे निहित होनेपर भी एकता रहती है।

परिवर्तनशील होनेसे जगत्‌का कोई आधार होना चाहिए। वह आधार जीव या ईश्वर है और जगत् आधेय है। आधेय होनेसे सारा जगत् ईश्वरका विशेषण है। परम् दृष्टिसे जगत्‌के सारे पदार्थ ईश्वर-का विशेषण होनेसे अद्रव्य है। दूसरी ओर वे द्रव्य भी हैं क्योकि उनके भी गुण, कर्म आदि होते है। विशेषण होनेके नाते चित् और अचित् समान-

१ वही, १।६।

२ सर्वार्थसिद्धि, १।१६।

रूपसे परम होते हुए भी ईश्वरपर पूर्णत अवलम्बित है। उनका यह सम्बन्ध अपृथक्सिद्धि है। ईश्वर विशेष्य है। जीव और जगत् उसके विशेपरण है। जीव, जगत् और ईश्वरमें भेद होते हुए भी आन्तरिक सबध है। अद्वैतके प्रतिकूल रामानुजने भेदको सत्य माना है। जीव (भोक्ता), पुद्गल (भोग्य) और ईश्वर (प्रेरिता) स्वरूपभेदके कारण तीन अलग अलग पदार्थ है। किन्तु परस्पर विशेष्य-विशेषरण होनेसे उनमें एकता है। उनकी यह एकता ही उनकी अपृथक्सिद्धि है। सत्य अद्वैत तो है किन्तु विशिष्टरूपसे। इसी कारण रामानुजकी विचारधारा विशिष्टाद्वैत कहलाती है। जीव और जगत्की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। जीव परमाणुरूप होता है।[१] वह ज्ञाता, कर्त्ता तथा भोक्ता है। अपने पार्थिव जीवनमें वह स्थूल शरीरसे सबधित रहता है। उसका स्वभाव उसके पूर्वजन्मो और अन्य दोषोके कारण सीमित रहता है।[२]

रामानुजने मायावाद और जगत्की प्रातिभासिक सत्ताको स्वीकार नही किया है। मायाकी धारणा व्यर्थ है क्योकि मायाका कोई आश्रय नही है। मायाका आश्रय ब्रह्म नही हो सकता क्योकि वह पूर्ण है, जीव भी नही हो सकता क्योकि अद्वैतके अनुसार जीव स्वय मायाकी उत्पत्ति है। ब्रह्मके ज्ञानसे अविद्याका नाश होना माना गया है। किन्तु प्रकार-रहित और निर्गुण होनेसे अद्वैतके ब्रह्मका ज्ञान ही नही हो सकता, मायाका नाश क्या होगा? जगत्की अनेकताको मृगमरीचिकाकी भाँति समझना अनुचित है। हम बहुधा बाध और भेदको समझनेमें गलती करते है। यदि दो वस्तुओमें बाध है तो वे सत्य नही हो सकती। घडा, कपडेके टुकडे और जगत्की अन्य वस्तुओकी सत्ता स्थान और कालमें अलग अलग होनेसे उनमें परस्पर बाध नही है। बाध किसी वस्तुके भाव और अभाव दोनोको एक ही स्थान और कालमें देखनेपर होता है। किन्तु यदि वस्तुओ-

१ यतीन्द्रमतदीपिका, ८ और श्रीभाष्य, २।३।१८।

२ दे०, सेश्वर मीमासा।

का भाव और अभाव अलग अलग स्थान और कालमें होता है तो उन वस्तुओंमें बाध नही होता।[1] शकरकी भाति रामानुजने भी 'तादात्म्य'में विश्वास किया है[2] किन्तु रामानुजके मतसे 'तादात्म्य'में भी भेद और गुण होते हैं, केवल बाध और अभाव नही होता।

विशिष्टाद्वैतका कार्यविषयक दृष्टिकोण सत्कार्यवाद कहलाता है। हरेक कार्यका उपादान कारण होता है और उसकी सत्ता कार्यके पहले होती है। अवस्थाका अन्तर होना ही कार्य है।[3] सम्पूर्ण जगत् विना किसी बाहरी सहायताके ईश्वरके अन्दरसे विकसित हुआ है। तो क्या ईश्वर परिवर्तनशील है? नही। परिवर्तन केवल विशेषणका ही होता है। विशेष्य अपरिवर्तनशील रहता है। ईश्वर विशेष्य होनेसे अपरिवर्तनशील है। परिवर्तन धर्मभूतज्ञानके आकुचन तथा प्रसारणसे होता है।[4] किन्तु इससे ईश्वर या जीवके स्वभावमें कोई अन्तर नही आता। परिवर्तन का आधार होनेसे धर्मभूतज्ञान द्रव्य है और ईश्वर या जीवका आधेय होनेसे गुण।

जीवका अपनी सीमिततासे छूट जाना ही मोक्ष है। मुक्त आत्माएँ ईश्वरकी भाति हो जाती है किन्तु ईश्वर नही होती।[5] अहकार ही मोक्षके विरुद्ध है, वैयक्तिकता नही। मोक्षमें जीवके गुणो और ज्ञानकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है। मोक्षमें सब जीव एकसे ही हो जाते है। ससारमें पुद्गलसे सम्बधित रहनेसे जीवोंमें भेद होता है। पुद्गलसे उनका सम्बन्ध स्वाभाविक नही है और वे उस सम्बन्धसे मुक्त हो सकते

---

१ देशान्तरकालान्तरसम्बन्धितयानुभूतस्यान्यदेशकालयोर् अभाव-प्रतिपत्तौ न विरोधः।

२ दे०, शकरभाष्य; २।२।३३ और श्रीभाष्य; २।२।३१।

३ अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता।

४ दे०, श्रीभाष्य; २।३।१८।

५ ब्रह्मणो भावः न तु स्वरूपैक्यम्।

है।[1] दैहिकसम्बन्धके कारण जो वैयक्तिकता होती है वह नित्य नही है। मोक्षसे जीवमें कोई नवीनता उत्पन्न नही होती।[2] देहिक वैयक्तिकतासे छुट जानेपर जीवका स्वभाव ही पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त हो जाता है।

(घ) द्वैत

द्वैत वेदान्तके प्रतिपादक मध्वका समय १२५६ से १३३५ सवत् है। मध्वने वेदान्तसूत्रोपर 'सूत्रभाष्य' तथा 'अनुव्याख्यान' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है। जयतीर्थने मध्वके इन दोनो ग्रन्थोपर 'न्यायसुधा' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है।

मध्वने तीन प्रमाण माने है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। ज्ञान इन्द्रियो-द्वारा होता है। इन्द्रिया सात हैं। साक्षी और मनस् भी इन्द्रिया हैं। साक्षीको इन्द्रिय मानना द्वैतकी विशेषता है। साक्षी चेतन तत्त्व है। साक्षीको प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है और वह सदा सत्य होता है। साक्षी अपने आपको स्वय जान सकता है। द्वैतका यह दृष्टिकोण अद्वैतके प्रतिकूल है क्योकि अद्वैतके अनुसार साक्षी ज्ञानका विषय नही बन सकता। द्वैतमें ज्ञाता और ज्ञेयमें तादात्म्य माना गया है। साक्षी व्यजक भी होता है और व्यज्ञ भी।

द्वैतमें ज्ञानके उत्पन्न होनेकी विधिकी व्याख्या न्यायवैशेषिककी भाति ही की गई है। किन्तु द्वैतकी ज्ञानकी धारणा न्यायवैशेषिकसे सर्वथा भिन्न है। न्यायवैशेषिकके अनुसार ज्ञान जीवमें इन्द्रियोद्वारा विषयके सम्पर्कमें आकर उत्पन्न होनेवाला गुण है। द्वैत ज्ञानको मनस्का प्रकार मानता है। ज्ञान मनस्की ही विशेषता है, जीवकी नही। द्वैतका ज्ञान-विषयक यह दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैतके प्रतिकूल है जहा ज्ञानको जीवकी प्रमुखता माना गया है। ज्ञान सगुण वस्तुका ही होता है और किसी निर्गुण

---

१ कर्मरूपज्ञातमूल. न स्वरूपकृतः।

२ दे०, श्रीभाष्य, ४।४।१।

तत्वको मानना सर्वथा अनुचित है। द्वैतका यह दृष्टिकोण विशिष्टाद्वैत से मिलता है।

सत्य वही है जो देश और कालमें हो। यथार्थता ही प्रमाकी परख है। स्वप्न और प्रत्यभिज्ञा भी प्रमा हैं किन्तु उनमें वाह्यताकी जो प्रतीति होती है वह भ्रम है। स्वप्नमें देखा गया हाथी तो सत्य है किन्तु स्वप्नमें हाथीको किसी स्थानविशेषमें देखना असत्य है। स्वप्नके पदार्थ सत्य इसलिए है कि वादमें उनका बाध नही होता। प्रत्यभिज्ञा ज्ञान भी सत्य है। वह असत्य तभी होता है जब किसी अतीत वस्तुको वर्तमानमें या दूरस्थ वस्तुको समीप समझा जाता है।

द्वैतका भ्रमका दृष्टिकोण अभिनवान्यथाख्याति कहलाता है। इस दृष्टिकोणमें और न्यायवैशेषिकके अन्यथाख्यातिमें केवल एक ही अन्तर है। अन्यथाख्यातिके अनुसार सापकी सत्ता जहा उसकी प्रतीति होती है (रस्सीमें) वहा न होकर अन्य कही होती है। द्वैत इस व्याख्यासे सहमत है किन्तु सापकी अन्यत्र सत्ताको व्यर्थ मानता है। द्वैतके अनुसार भ्रम तभी होता है जब किसी वस्तुका सर्वथा अभाव होनेपर भी उसका भाव मान लिया जाय। सत्यज्ञान होनेपर पता चलता है कि साँपका सर्वथा अभाव था किन्तु फिर भी उसका भाव मान लिया गया था। भ्रमके पदार्थ न तो वहाँ होते है जहाँ उनकी प्रतीति होती है और न और ही कही। किन्तु भ्रमका विषय—अभाव—होता है। द्वैतके मतसे अभावका ज्ञान भी सभव है। किसी वस्तुको असत् कहनेका अर्थ है कि हमें उसका असत् रूपमें ज्ञान है। भ्रमके पदार्थ तो असत्य होते है किन्तु भ्रमका ज्ञान सत्य होता है। भ्रमके पदार्थोंकी असत्यता भ्रमके ज्ञानकी असत्यताको नही घोषित करती जैसा कि अद्वैतमें माना गया है।

द्वैतमें दस पदार्थ माने गए है[1] द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अशिन, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन दसो पदार्थोंमें द्रव्य

---

१ दे०, मध्वसिद्धान्तसार, २

और विशेष अत्यन्त महत्त्वके है। द्रव्य बीस है किन्तु उनमेंसे तीन ही आवश्यक है ईश्वर, जीव और प्रकृति।

ईश्वरको द्वैतमें विष्णु कहा गया है। विष्णुको पूर्णरूपसे नही जाना जा सकता।[१] किन्तु विष्णु अद्वैतके ब्रह्मकी भाति समझसे बिल्कुल बाहर नही है। वह सत्, रजस् और तमस्से परे है। उसमें वैयक्तिकता है किन्तु वह निरपेक्षित प्रकारकी है। जगत्के कार्य उसीके प्रसादसे होते रहते है। यद्यपि वह 'एक' है तथापि अपनी इच्छानुसार कोई भी रूप धारण कर सकता है। वह जगत्का निमित्तकारण है।

जीवोकी सख्या अपरिमित है। प्रत्येक जीव एक दूसरेसे भिन्न है जो उनके अनुभवोके भेदसे स्पष्ट है। हरेक जीव परमाणुरूप है। जीव और ईश्वरमें भेद तो है किन्तु यह भेद पुद्गल और ईश्वरके भेदकी भाँति निरपेक्षित नही है, क्योकि ईश्वरकी भाँति जीवोमें भी चेतनता और आनन्द रहता है। अद्वैतके प्रतिकूल द्वैतमें जीव और ईश्वरका स्वभाव एक नही माना गया है। जीव और ईश्वरमें सादृश्य मात्र ही है।

प्रकृति भौतिक जगत्का उपादानकारण है। वह नित्य तथा जड है। तीन गुण प्रकृतिकी पहली उत्पत्ति है, विशिष्टाद्वैतकी भाँति उसकी विशेषताएँ नही।

द्वैतमें कार्यका दृष्टिकोण सदासद्कार्यवाद कहलाता है, जो अद्वैत, न्यायवैशेषिक और साख्य आदिके दृष्टिकोणसे भिन्न है। उत्पत्तिसे पहले कार्यका न तो भाव होता है और न अभाव, किन्तु भाव और अभाव दोनो ही होते हैं। कार्य सत् भी होता है और असत् भी। उत्पत्तिसे पहले कार्यका कारण रूपमें भाव होता है और कार्य रूपमें अभाव, उत्पत्तिके बाद कार्यरूपमें भाव और कारणरूपमें अभाव। यह दृष्टिकोण बाधित नही है। क्योकि 'भाव' और 'अभाव'को एक ही पक्षसे स्वीकृत नही किया गया है।

१ दे०, सूत्रभाष्य, १।१।५।

अन्तर है। समान वस्तुओमें विशेषके द्वारा ही भेद किया जाता है। द्वैतकी विशेषकी धारणा और न्यायवैशेषिककी विशेषकी धारणामें अन्तर है। न्यायवैशेषिकके अनुसार पदार्थोमें परस्पर भेद होता है और विशेष उसी भेदकी व्याख्या करता है। द्वैतमें विशेष दो वस्तुओमें किए गए भेदकी व्याख्या करता है यद्यपि उन वस्तुओमें भेद होता नही है। भेदाभेदकी व्याख्या वाधित होनेसे व्यर्थ है।

द्वैतमें भेदकी धारणाका वडा महत्त्व है। अद्वैत भेदकी धारणाको नही मानता, क्योकि भेदकी धारणा सापेक्ष है और भेदकी गई वस्तुओ-के विना समझमें नही आ सकती। अद्वैतमें भेदको सापेक्ष होनेसे प्राति-भासिक माना गया है। द्वैतके मतसे सापेक्षताका प्रश्न इसलिए उत्पन्न होता है कि भेदको दो वस्तुओमें सम्वन्ध स्थापित करनेवाली कोई अन्य तीसरी चीज समझा जाता है। किन्तु यह ठीक नही है। मेज़ मेज़ इसी-लिए है क्योकि वह खाट या किताव इत्यादि नही है। मेज़ और उसका अन्य वस्तुओसे 'भेद' अलग अलग वातें नही है। उसका अन्य वस्तुओंसे 'भेद' ही 'वह' (अर्थात् मेज़) है। वास्तवमें 'भेद' ही पदार्थ विशेष या उसका स्वरूप होता है। फिर भी उनमें जो भेद किया जाता है वह उनका एक विशेष प्रकारका तादात्म्य ही है। इसे सविशेषाभेद—विशेषसे सम्बन्धित तादात्म्य—कहा गया है।

जगत्की प्रत्येक वस्तुका अपना अलग स्वरूप है और इसी स्वरूपके कारण उसका अन्य वस्तुओसे भेद होता है। परम् भेद केवल पाच तरहका होता है ईश्वर और जीवमें, ईश्वर और पुद्गलमें, जीव और पुद्गलमें, परस्पर जीवोमें और पुद्गलके अपने अनेक रूपोमें। किन्तु भेदका यह अर्थ नही है कि सब वस्तुएँ स्वतत्र हैं। यद्यपि शरीर और जीवमें भेद है तथापि शरीर जीवपर निर्भर है। इसी प्रकार जगत् ईश्वरपर निर्भर है। स्वतत्र वस्तु वही है जिसकी अपने आपमें सत्ता हो, जो स्वय जान सके और कर्म

कर सके।[1] ऐसी वस्तु ईश्वर ही है। सब चीजोकी सत्ता, ज्ञान और क्रिया ईश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। ईश्वर जगत्‌से परे न होकर जगत्‌में ही है और अन्दरसे ही जगत्‌का सचालन करता है। केवल ईश्वरको ही स्वतत्र माननेसे द्वैतका अनेकवाद न्यायवैशेषिकके अनेकवादसे बिल्कुल भिन्न है। न्यायवैशेषिकमें बहुत सी वस्तुओको स्वतत्र माना गया है।

ससारकी उत्पत्ति अविद्यासे हुई है जो अनादि है। अविद्या बीस द्रव्योमेंसे एक है। अविद्या मनुष्यसे ईश्वरका स्वरूप ही नही छिपाती (परमाच्छादिक), वह मनुष्यसे उसका अपना स्वरूप भी छिपाए रखती है (जीवाच्छादिक)। अविद्याके इसी आवरणसे छूट जाना मोक्ष है। मोक्षप्राप्तिके लिए ईश्वरकी भक्ति और किसी गुरुकी शरणमें जाकर श्रवण, मनन और ध्यान करना आवश्यक है।

---

१ स्वरूपप्रमितिप्रवृत्ति लक्षणसत्तात्रैविध्ये, परानपेक्षं स्वतन्त्रं तदपेक्षं परतन्त्रम्। (तत्त्वसंख्यानम् पर टीका)

निर्देशिका

श

सहायक ग्रन्थ

Winternitz,	History of Indian Literature.
Dasgupta, S. N.,	History of Indian Philosophy.
Radhakrishnan,	Indian Philosophy
Hiriyanna,	Outlines of Indian Philosophy
Ranade, R. D.,	A Constructive Survey of U shadic Philosophy
Tilak, B. G,	Gita Rahasya
Jaini, J. L.,	Outlines of Jainism
Coomarswamy,	The Buddha and the Gospel Buddhism
Stcherbatsky,	The conception of Bud Nirvan
Rhys David,	Buddhism
Sogen, Y,	Systems of Buddhistic Thought
Suzuki,	The Mahayan Buddhism
Keith, A. B.,	Indian Logic and Atomism
Seal, B. N,	The Positive Sciences of Ancient Hindus
Max Muller,	Six Systems of Indian P sophy.
Deussen,	The system of the Vedanta.
Thibaut,	The Vedanta Sutra with San ra's Commentary
Urguhart,	The Vedanta and Modern Thc
Kirtikar,	Studies in Vedanta
Carpenter,	Theism in Mediaeval India.